॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुर विरचित

श्रीश्रीचैतन्य–शिक्षामृत

नीति, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, मुक्ति, भक्ति और प्रीति सम्बन्धीय
श्रीमन्महाप्रभुके उपदेश

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके

अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा
अनुवादित एवं सम्पादित

प्रकाशक :
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त माधव महाराज

तृतीय संस्करण : ५००० प्रतियाँ
श्री श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरकी आविर्भाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२०
६ सितम्बर, २००६

सर्वाधिकार सुरक्षित :
गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

विषय-सूची

विबोधन ..... पृष्ठ संख्या **क—ख**
निवेदन ..... **ग—च**
प्रस्तावना ..... **छ—ञ**
तृतीय सस्करणका सम्पादकीय वक्तव्य ..... **ट**

प्रथम खण्ड ..... **१—३६४**
प्रथम वृष्टि—सामान्यरूपसे परमार्थ-धर्मनिर्णय **१-९४**
प्रथम धारा—उपक्रम **३-२४**
मङ्गलाचरण ३
तीन प्रकारके पदार्थ ३
मूल सृष्टिकर्त्ता ४
ईश्वरका आकार जड़ नहीं है ४
भगवान्‌का चिन्मय स्वरूप ४
नास्तिक स्वभाव ५
वैकुण्ठधाम भक्ति द्वारा प्राप्य ५
जड़जगत और दुःख ६
ज्ञान उदित होनेके साथ-ही-साथ ईश्वरका भजन करना अति आवश्यक है ७
भजनका प्रयास करनेके चार कारण ८
राग भजनका स्वरूप और परिचय ९
कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य मूलक वैधभजन ९
ईश्वर विश्वास और भजन १०
तीन प्रकारकी नास्तिकता ११
मनुष्योंमें परस्पर देह और मनका भेद ११
विभिन्न धर्मोंमें पाँच प्रकारके भेद १२
(१) आचार्य भेद १३
(२, ३) चिन्ता और अनुभूतिके भेदसे विभिन्न भजन-प्रणाली १३
(४) क्रिया और भाव भेदसे अर्चन भेद १३

(५) भाषाके भेदसे ईश्वरकी विभिन्न सजाएँ १४
अन्यान्य गौण भजन प्रणालियोंके प्रति अनिन्दा और अनसुया १४
निन्दा तथा असुया परित्याज्य १५
असद् धर्म प्रणालीका त्याग अवश्यम्भावी १५
अनेक प्रकारके अपधर्म १५
ईश्वरप्रीति ही नित्यधर्म १६
कृष्णप्रेम और उसका धर्म १६
भगवान्में ही वास्तविक नित्यधर्मका वर्णन १७
विद्वत्-प्रतीति और अविद्वत्-प्रतीति १७
विद्वत्-प्रतीति ही आवश्यक है १७
अविद्वत्-प्रतीतिका फल निर्विशेष तत्त्वकी उपलब्धि १८
युक्तिकी असमर्थता १८
एकमात्र कृष्ण ही प्रेमके विषय है १९
कृष्णधामका परिचय १९
ऐश्वर्यशिथिल माधुर्यमय कृष्ण ही प्रेमके विषय २०
रागके उदित नहीं होने तक विधिका अवलम्बन ही श्रेयस्कर २१
विधि और रागमार्गसे श्रीकृष्णभजन २१
ईश्वर विश्वास मूलक नीति ही वास्तविक नीति है २१
गौण और मुख्य विधि २२
गौण ओर मुख्य विधिका परिचय २२
मनुष्य-जीवनकी विभिन्न अवस्थाएँ २३
भक्तिहीन जीवन ही पशु धर्म है २३
ईश्वर, भगवान् और कृष्णनाम २४
द्वितीय धारा—श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षा प्रणाली ..... २५—३६
श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका उपदान २५
श्रीनाम-प्रचार २६
गौर-शिक्षासार २७
भजनका क्रम २८
शास्त्रोंमें विश्वास होना ही श्रद्धा है ३२
कोमल और दृढ़ श्रद्धा ३२
कोमल श्रद्धाकी उन्नतिका क्रम ३२
कोमल श्रद्धावाले व्यक्तिका कर्त्तव्य ३३

दृढ़ श्रद्धा ३४
कोमलश्रद्ध व्यक्तिके लिए वेदादि शास्त्र ही मूल प्रमाण है ३४
कृष्ण ही सम्बन्ध है ३५
कृष्णभक्ति ही अभिधेय है ३६
कृष्णप्रेम ही प्रयोजन है ३६
तृतीय धारा—कृष्ण, कृष्णशक्ति और रस ३७–५०
कृष्णका स्वरूप ३७
तीन प्रकारके दर्शन ३८
श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं ४०
कृष्णदर्शनकी योग्यता ४२
प्राकृत विज्ञान द्वारा अप्राकृत वस्तुको कदापि
नहीं जाना जा सकता ४४
कृष्णशक्ति ४४
मायाशक्ति ४५
विभिन्न शक्ति-परिणाम ४६
जड़प्रकृति ४७
रसतत्त्व ४८
चतुर्थ धारा—जीव—बद्ध और मुक्त ५१–५९
जीवका स्वरूप ५२
स्वांशतत्त्व ५३
विभिन्नांश जीवतत्त्व ५४
कृष्ण और जीव ५५
जीवका स्वरूप ५६
बद्धजीवकी दुरावस्था ५७
पञ्चम धारा—अचिन्त्यभेदाभेद-तत्व ६०–६७
प्रणव ही महावाक्य है ६३
अचिन्त्यभेदाभेद व शक्ति-परिणामवाद ही ब्रह्मसूत्रका मत ६४
अचिन्त्यभेदाभेद तर्कातीत ६६
षष्ठ धारा—साधन-निर्णय ६८–८१
विवर्त्तवाद ६८
भक्ति ही अभिधेय है ७०
भक्तिरहित कर्म, योग और ज्ञान निष्फल हैं ७१

प्रेम नित्यसिद्ध है ७२
वैधीभक्ति ७३
श्रेणी-विभाग ७६
साधनका रहस्य ७६
पारमहंस्य अवैध नहीं है ७७
ज्ञान और वैराग्यादि—भक्तिके सोपान या अङ्ग नहीं हैं ७८
रागानुगाभक्ति ७८
क्रम पथ ही कल्याणप्रद है ८०
कर्म आत्माका धर्म नहीं है ८१
साधनभक्तिसे ही आत्मोन्नति होती है ८१
सप्तम धारा—प्रयोजनतत्त्व ८२-९४
भावका लक्षण ८३
प्रेमका लक्षण ८४
मधुररस आस्वद्य है, विचारणीय नहीं ८५
फल्गुवैराग्य ८६
युक्तवैराग्य ८७
वर्णाश्रममें हरिभजनकी प्रणाली ९०
श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्मकी दो विशेष बातें ९२
साध्य-साधनतत्त्व ९३

द्वितीय वृष्टि—गौण विधिका विचार ९५-१४६
प्रथम धारा—गौण विधिके विभाग ९७-१०२
भक्ति ही मुख्य अभिधेय है, कर्म और ज्ञान नहीं ९७
जननिष्ठ विधि ९८
समाजनिष्ठ विधि ९९
वर्ण और आश्रम विधि १००
चार प्रकारके स्वभाव १०१
अवस्थान १०२
द्वितीय धारा—पुण्य-कर्म १०३-११८
अधिकार भेदसे कर्म विधि १०३
स्वरूपगत और सम्बन्धगत पुण्य १०४
(१) परोपकार १०५

(२) गुरुजनोंकी सेवा १०६
(३) दान १०७
(४) आतिथ्य १०९
(५) पवित्रता १०९
(६) महोत्सव १११
(७) व्रत ११२
(८) पशुपालन ११२
(९) जगद्वृद्धिके कार्य ११३
(१०) न्यायाचरण ११४
तृतीय धारा—कर्माधिकार और वर्ण-विचार..... ११९–१२७
अधिकार-निर्णय ११९
स्वभाव-निर्णय १२०
स्वभावके अनुसार वर्ण-निरूपण १२२
भारतमें वर्त्तमान वर्णाश्रम-विधिकी अवस्था १२४
वर्ण-व्यभिचार १२५
स्वभावहीनता ही वर्ण-विशृंखलताका मूल कारण है १२६
वर्णके अनुसार कर्म-व्यवस्था १२७
चतुर्थ धारा—आश्रमविचार १२८–१३२
वर्ण और आश्रम १२८
ब्राह्मण-स्वभाववाले ब्रह्मचारीका कृत्य १२८
चारों वर्णोंका गृहस्थ-धर्म १२९
वानप्रस्थका कृत्य १३०
संन्यासका कृत्य १३१
दुर्बल व्यक्तिके लिए आश्रम नहीं है १३१
स्त्रियोंके लिए उपयोगी आश्रम १३१
गृहस्थ आश्रम ही साधारण व्यक्तियोंके लिए उपयोगी है १३२
धर्मशास्त्रसमूह १३२
पञ्चम धारा—आह्निक १३३–१४६
गृहस्थके मानसिक और शारीरिक कर्त्तव्य १३३
निर्विघ्न रूपसे दैनिक कृत्यादि कर्त्तव्य १३४
विभिन्न प्रकारके दैनिक कृत्य १३५
(१) नर-हिंसा और पशु-हिंसा १३६

(२) निष्ठुरता १३७
(३) क्रूरता १३७
(४) चित्त-विभ्रम (पागलपन या उन्माद) १३८
(५) मिथ्या (झूठ) १३९
(६) गुर्ववज्ञा १४०
(७) लाम्पट्य १४०
(८) स्वार्थ-सर्वस्वता १४१
(९) अपवित्रता १४२
(१०) अशिष्टाचार १४३
(११) जगन्नाशकर-कार्य १४३
पाप और अपराध १४४
त्रैवर्गिक और आपवर्गिक धर्म १४५

तृतीय वृष्टि—मुख्य विधि या वैधीभक्तिका साधारण विचार..... १४७–२००

प्रथम धारा—वैधीभक्तिका लक्षण १४९–१५९
आर्थिक और पारमार्थिक धर्म १४९
आर्थिक और पारमार्थिक धर्मका भेद १५१
भक्ति प्राप्त करनेके दो पथ १५३
जीवोंकी श्रेणीका विभाग १५३
भक्त-जीवनकी सर्वश्रेष्ठता १५३
भक्त-जीवनमें समग्र नैतिक गुणोंका समावेश है १५४
क्रमोन्नति-पथ १५५
भक्तिका परिचय १५७
वैधीभक्तिका लक्षण १५८

द्वितीय धारा—भक्तिके अनुशीलनकी विधि १६०–१७२
भक्तियोग और पाँच प्रकारकी वैधीभक्ति १६०
(१) शरीरगत अनुशीलन १६१
(२) मनोगत अनुशीलन १६४
(३) आत्मगत अनुशीलन १६५
(४) देश, काल और द्रव्यगत भगवदनुशीलन १६६
(५) समाजगत अनुशीलन १६९

बहिर्मुख संसार तथा वैष्णव संसार १७१
जीवोंपर दया करना वैष्णवोंका स्वभाव है १७२
तृतीय धारा—अनर्थ-विचार १७३-१९०
भक्ति-प्रतिकूल निषिद्धाचार परित्यज्य १७३
(१) बहिर्मुख जनसङ्ग १७४
(२) अनुबन्ध १७७
(३) महारम्भादिका उद्यम १७७
(४) अनेक ग्रन्थोंका कलाभ्यास और व्याख्यावाद १७८
(५) कार्पण्य १७८
(६) चार प्रकारकी वशवर्तिता १७८
(७) अन्य देवताओंके प्रति अवज्ञा १८०
(८) प्राणियोंको उद्वेग देना १८१
(९) सेवापराध और नामापराध १८२
नामापराध दस प्रकारके हैं १८४
विष्णु सच्चिदानन्दघन नित्य साकार मूर्त्ति हैं १८६
भगवान्‌की निन्दा एवं भागवत्-निन्दाका अनुमोदन करना १८९
चतुर्थ धारा—गौण और मुख्य विधियोंका परस्पर सम्बन्ध..... १९१-२००
कर्मकाण्ड और वैधीभक्तिमें अन्तर १९१
वर्णाश्रमधर्म और वैधीभक्तिमें सम्बन्ध १९२
वर्णाश्रमधर्म पालन ही चरम प्रयोजन नहीं है १९३
भक्ति अनुशीलनका सोपान १९३
वर्णाश्रमधर्म और वैधीभक्ति १९४
मनुष्यमात्र ही भक्तिके अधिकारी हैं १९५
मानव-जीवन एक सोपानमय गठन-विशेष है १९६
नियमाग्रह १९७
कर्म और भक्ति १९७
ज्ञान और वैराग्य भक्तिके अङ्ग नहीं है १९८
भक्तिके पाँच मुख्य अङ्ग १९९
वैधभक्तोंकी तीन अवस्थाएँ १९९
साधनका क्रम २००
चतुर्थ वृष्टि—रागानुगाभक्तिका विचार २०१-२१०
विधि और राग २०३

विधि और राग विपरीत तत्त्व नहीं है २०४
रागात्मिका और रागानुगाभक्ति २०५
रागानुगाभक्तिके साधनमें वैधीसाधनभक्तिके
अङ्गोंको स्वीकार करना २०५
कामरूपा २०७
सम्बन्धरूपा २०८
सिद्धदेह द्वारा भजन २०९

पञ्चम–वृष्टि—भावभक्तिका विचार २११–२९६
प्रथम धारा—भावभक्ति २१३–२१९
प्रेमभक्तिकी दो अवस्थाएँ २१३
रति और प्रेम २१४
प्रेमकल्पतरुका बीज २१५
रति प्रेमका सूक्ष्म अंश है २१५
तीन प्रकारके कृष्णप्रसाद २१६
भक्तप्रसादज भाव २१७
शक्तिसञ्चार २१७
भक्त भेदसे पाँच प्रकारकी रतियाँ २१८
द्वितीय धारा—भावुक–लक्षण २२०–२२७
चार प्रकारके अवैध वैरागी २२३
तृतीय धारा—ज्ञानविचार..... २२८–२८५
पाँच प्रकारके ज्ञान २२८
(१) इन्द्रियार्थज्ञान २२८
(२) नैतिकज्ञान २२९
(३) ईश्वरज्ञान २३१
(४) ब्रह्मज्ञान २३२
मायावाद और विवर्त्तवाद २३२
पेन्थिष्ट २३४
दत्तात्रेय, अष्टावक्र, शङ्कर २३४
अद्वैतवादका विचार २३६
ब्रह्मविकृत होकर जगत हुआ है २३६
अचिन्त्यभेदाभेद–तत्त्व ही वेदका तात्पर्य है २३७

वास्तविक मुक्ति	२३८
प्रेम सर्वजीव-सम्बन्धीय तत्त्व है	२३९
(५) शुद्धज्ञान	२३९
पाँच प्रकारके शुद्धज्ञान	२४०
युक्ति परतत्त्वको स्पर्श करनेमें अक्षम	२४२
भगवान् सर्ववृत्तिगम्य	२४२
चार प्रकारके भगवदनुभव	२४३
वास्तविक भगवदनुभव	२४४
भगवान्का स्वरूप	२४४
चित्-विग्रह	२४५
निर्विशेष-कल्पना	२४६
वस्तुका लक्षण	२४७
भगवान्की शक्ति अचिन्त्य है	२४८
स्वानुभव	२५०
जीव चित्-वस्तु और अणुचैतन्य है	२५१
चित्-देहके दो आवरण	२५२
कर्म अनादि कैसे?	२५३
दो प्रकारके मुक्तजीव	२५४
चिन्मय धाममें हेयताका अभाव है	२५५
शुद्ध अहङ्कार	२५६
बद्धजीव	२५७
पाँच प्रकारके नर-जीवन	२५८
स्वधर्मानुभव	२५९
दो प्रकारकी वस्तुएँ	२६१
जीवका धर्म	२६१
जीव चिदानन्द है	२६२
जीवका स्वधर्म	२६२
पाँच प्रकारके फलानुभव	२६४
विकर्म	२६४
अकर्म	२६५
वर्णाश्रमधर्मका आचरण करनेवाले पुरुष	२६५
कर्म प्रवृत्तिके दो भेद हैं	२६८

कैवल्य २६९
ब्रह्मज्ञान और निर्वाण २६९
भक्ति २७०
विरोधानुभव २७१
परेश-स्वरूप विरोधी कार्य २७१
श्रीविग्रहसेवा और पौत्तलिकतामें पार्थक्य २७४
ईश्वरज्ञानसे जड़की पूजा पौत्तलिकता है २७७
निर्विशेषवादी भी पौत्तलिक ही हैं २७७
पंचोपासना भी पौत्तलिकता ही है २७७
कल्पितमूर्त्ति-ध्यान भी पौत्तलिकता है २७८
जीवोंको ईश्वर मानना भी पौत्तलिकता है २७८
जीवस्वरूपके विरोधी मतसमूह २७९
भक्ति ही जीवका स्वधर्म है २८१
भक्ति ही भक्तिका फल है २८२
ब्रह्मज्ञान ईश्वरज्ञानकी उपशाखा है २८३
ज्ञानके तीन विभाग २८४
चतुर्थ धारा—रतिविचार २८६–२९६
पाँच प्रकारकी रतियाँ २८९

षष्ठ वृष्टि—प्रेमभक्तिका विचार २९७–३६४
प्रथम धारा—प्रेमभक्तिका विचार भेद २९९–३०२
प्रेमभक्ति २९९
दो प्रकारका प्रसादोत्थ प्रेम ३००
प्रेम ही सर्वार्थशिरोमणि है ३०१
द्वितीय धारा—प्रेमोदयका क्रम-विकास ३०३–३०८
प्रेमोदय होनेके नौ क्रम ३०३
तृतीय धारा—प्रेमाधिकारके भेदसे नामभजनका विचार..... ३०९–३२३
प्रेमाधिकारकी दो अवस्थाएँ ३०९
शरणागत व्यक्तिके लक्षण ३१०
श्रीहरिनामका अनन्य भावसे आश्रय-गहण ३१०
श्रीनामका स्वरूपज्ञान ही भजनोन्नतिका हेतु है ३११
दशमूल ३१२

नित्य सुख-सम्बन्ध ही प्रेम है ३१३
चित्-विलास ३१४
जड़जगत चिद्धामका हेय प्रतिफलनमात्र है ३१५
अनर्थसे कृष्ण-विमुखता ३१६
व्यास-नारद-संवाद ३१७
कृष्णभक्ति ही आत्माका नित्य सहज धर्म है ३१८
कृष्ण-शरणागति ३१८
साधुसङ्गमें श्रवण-कीर्त्तन ३१९
चित्त निर्मल होते ही अप्राकृत तत्त्वकी उपलब्धि ३२०
नाम ही सर्वश्रेष्ठ आराध्य हैं ३२०
नामभजनमें देश-काल सम्बन्धी नियमोंका विचार नहीं है ३२१
स्व-स्वरूप और नामका स्वरूप ३२३
चतुर्थ धारा—(नामभजन प्रणाली) ३२४-३३६
नाम कृष्णावतारस्वरूप हैं ३२४
महामन्त्रका अर्थ ३२६
संख्या-नाम ३२७
साधक और सिद्ध ३२८
श्रीनामके समीप सक्रन्दन-प्रार्थना ३३०
भारवाही और सारग्राही ३३०
श्रद्धा और साधुसङ्ग ३३०
नामतत्त्वविद् गुरुका पदाश्रय ३३१
नामाभास ३३२
साधकोंकी पाँच दशाएँ ३३४
(१) श्रवण-दशा ३३४
(२) वरण-दशा ३३४
(३) स्मरण-दशा और (४) आपन-दशा ३३५
(५) प्रापन-दशा ३३५
पञ्चम धारा—प्रेमारुरुक्षु-पुरुषोंकी गति ३३७-३५०
नाम-ग्रहण करनेके अधिकारी ३३८
भक्तिलताकी वृद्धिका उपाय ३३९
वैष्णव-अपराध ३४०
निषिद्धाचार ३४०

उत्पात-विनाशकारी सद्गुरुका सङ्ग ३४१
मधुररस ३४२
राधाकृष्णतत्त्व ३४२
जीवके नित्य शरीरमें देह और देहीका भेद नहीं ३४२
सिद्धदेहकी भावना ३४४
स्वरूपसिद्धि ३४६
आपन-दशा तथा वस्तुसिद्धि ३४७
चिद्धाम ३४७
नित्यधाम, नित्यलीला और नित्यगण ३४८
असुर-नाश आदि भावमात्रसे वर्त्तमान ३४९
षष्ठ धारा—अष्टकालीय लीला-परिचय..... ३५१-३६४
अष्टकालीय लीला ३५१
(१) निशान्त लीला ३५१
(२) प्रातःलीला ३५२
(३) पूर्वाह्न-लीला ३५४
(४) मध्याह्न-लीला ३५४
(५) अपराह्न-लीला ३५७
(६) सायं-लीला ३५८
(७) प्रदोष-लीला ३५८
(८) निशा-लीला ३५९
अष्टकालीय लीला-परिचय
(जड़बद्धजीव कृष्णलीला श्रवण करनेमें अनधिकारी) ३५९
श्रद्धावान जीव ही अधिकारी ३६०
श्रीकृष्णकी नित्य और नैमित्तिक लीला ३६१
व्रजभजनके प्रतिकूल तत्त्व बलदेवजीकी कृपासे दूर होता है ३६३

द्वितीय खण्ड— ३६५-४६७
सप्तम वृष्टि—रस-विचार..... ३६५-४४३
प्रथम धारा—साधारण रसविचार..... ३६७-३८४
रस नित्य है ३६७
रससामग्री भी नित्य है ३६७
जड़रस ३६८

जड़रस और चित्-रसका भेद ३६८
अप्राकृत रसके अधिकारी ३७०
पाँच भाव ३७१
स्थायीभाव ३७२
पाँच प्रकारके स्वभाव ३७३
शान्तरति ३७७
दास्यरति ३७७
सख्यरति ३७८
वत्सलरति ३७८
मधुररति ३७८
रति भेद ३७९
रत्याभास तथा सत्त्वाभास ३८१
महाभाव ३८३
द्वितीय धारा—उपासनामात्रमें ही रसतत्त्वका विचार है ३८५–३८९
उपासना किसे कहते है? ३८५
अनर्थ ३८५
दो प्रकारके उपासक ३८७
जड़चिन्ता या निर्विशेष चिन्ता उपासना नहीं है ३८८
तृतीय धारा—शान्तरस–विचार ३९०–३९३
शान्त जीव ३९०
शान्तरतिका विषय ३९१
चतुर्थ धारा—प्रीतभक्ति–रसविचार ३९४–४००
दास्यरस ३९४
भगवत्-तत्त्वका स्वरूव ३९५
अनुभाव ३९८
रागात्मिकाभक्ति तथा रागानुगासाधक ४००
पञ्चम धारा—प्रेमभक्तिरस, सख्यरस ४०१–४०८
कृष्णके सखा ४०२
षष्ठ धारा—वत्सल–भक्तिरस..... ४०९–४१३
वत्सलरस ४०९
विभाव ४०९
अनुभाव ४११

स्थायीभाव ४१२
वत्सलरसका उत्कर्ष ४१२
सप्तम धारा—मधुरभक्तिरस ४१४–४४३
मधुररस ४१४
मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है ४१४
जड़जगत चित्-जगतका प्रतिफलन ४१५
रसविचित्रता ४१६
कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता—जीव भोग्य ४१६
श्रद्धापूर्वक व्रजलीलाकी आलोचना ४१७
आलम्बन ४१८
शुद्धजीव शुद्धसत्त्व है ४१८
हरि-गुरु-वैष्णवकी कृपासे शुद्धसत्त्वका उदय ४१९
पारकीयरस ४२०
गोपियोंकी पारकीयता सम्पूर्ण रूपसे निर्दोष ४२३
गोलोक-दर्शनके अधिकारी ४२४
कृष्णका नायकत्व ४२५
नायकके सहाय ४२५
दूती ४२६
गोपियोंके प्रकार भेद ४२६
यूथेश्वरी ४२८
श्रीमती राधिकाका सर्वश्रेष्ठत्व ४२९
पच्चीस प्रधान गुण ४३०
पचास सौभाग्यरेखाएँ ४३१
श्रीराधाजीका यूथ ही सर्वोत्तम ४३२
जड़ और पारकीयरस ४३२
नायिका भेद ४३३
नायिकाकी अवस्था ४३३
दूती ४३४
सखियोंके कार्य ४३५
स्वभाव ४३६
निसर्ग ४३७
तीन प्रकारकी रति ४३७

स्नेह ४३८
मान ४३८
प्रणय, राग ४३८
अनुराग ४३८
विप्रलम्भ और महाभाव ४३९
महाभाव ४३९
प्रवेश-सोपान ४४१

अष्टम वृष्टि—उपसंहार..... ४४५-४६७
ग्रन्थकारका निवेदन ४४७
विचारके पाँच अङ्ग ४४७
(१) नीतिशून्य निरीश्वर बद्ध-जीवन ४४८
(२) नैतिक निरीश्वर बद्ध-जीवन, तथा (३) नैतिक सेश्वर बद्ध-जीवन ४४९
(४) निर्विशेष चिन्ता द्वारा विकृत जीवन ४४९
साधनभक्ति-जीवन ४४९
नीतिशून्य व्यक्तियोंकी बहिर्मुख युक्ति ४५०
नैतिक बहिर्मुखकी युक्ति ४५१
कल्पित-सेश्वर-नैतिक व्यक्तिोंकी युक्ति ४५२
वास्तव-सेश्वरनैतिक व्यक्तियोंकी युक्ति ४५४
सम्बन्धज्ञानकी आलोचना करना आरम्भ ४५८
कर्म-सङ्गति ४५९
निर्विशेष ज्ञान-सङ्गति ४५९
भक्ति-सङ्गति ४६०
कर्मी ४६०
ज्ञानकाण्डी ४६०
कर्मी और भक्तमें पार्थक्य ४६१
कर्मी और भक्तमें अन्तर क्या है? ४६२
तापस या योगीकी चेष्टा ४६२
बहिर्मुख चित्त ४६३
अन्तर्मुख जीवन ४६५
जीवके लिए भक्ति ही परमपुरुषार्थ है ४६६

प्रेममय जीवन ४६६

श्लोक–सूची ४६९–४८६

पयार–सूची ४८७–४९०

विबोधन

श्रीशचीनन्दन श्रीचैतन्यदेवने श्रीधाम नवद्वीप मायापुरमें अवतीर्ण होकर अपने पवित्र चरित्र और मधुर उपदेशोंसे जगत-जीवोंको जो शिक्षा दी है, उसीका नाम श्रीचैतन्य-शिक्षामृत है। वही शिक्षा निखिल जीवोंके लिए परमामृत धन है। इस ग्रन्थमें वर्णित सैद्धान्तिक विचारोंकी पुष्टिके लिए कई शास्त्रीय प्रमाण दिए गए हैं, जिससे कि पाठकोंको उन विषयोंमें कोई सन्देह न रहे। पाठक महोदयोंसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे विशेष यत्नाग्रहसे इस ग्रन्थका अनुशीलनकर कृतकृतार्थ हों।

भलीभाँति आलोचना करनेपर ऐसा स्पष्ट रूपसे प्रतीत होगा कि श्रीचैतन्य-शिक्षामृत समस्त शास्त्रोंका सार है। ऋक, साम, यजु एवं अथर्व वेद तथा वेदान्त शास्त्रमें जिस गम्भीर तत्त्वका आविष्कार किया गया है, श्रीचैतन्य-शिक्षामृतमें उसका सार संकलित है। अष्टादश पुराणों, बीस धर्मशास्त्रों, महाभारत, षड़दर्शन और तन्त्रोंके सारे कल्याणकर सदुपदेशोंको इस शिक्षामृत ग्रन्थमें तात्त्विक रूपमें देखा जा सकता है। विदेशीय और स्वदेशीय प्रचलित धर्मोंके सुसिद्धान्तपूर्ण शिक्षाओंका इसमें समावेश किया गया है। स्वदेशीय और विदेशीय किसी भी ग्रन्थमें जो बात नहीं मिलेगी, वे भी इस उपादेय ग्रन्थमें प्राप्त होंगी।

इस शिक्षामृतमें जिस धर्मका उपदेश किया गया है, वह नितान्त सरल और गम्भीर है। सरल इसलिए है कि मूर्ख, बोधशून्य, निरक्षर मनुष्यके लिए यह धर्म सहज-स्वाभाविक है और गम्भीरका तात्पर्य यह है कि तर्क, विचार और शास्त्रज्ञानमें पारङ्गत विद्वज्जनके लिए परम उपकारी धर्मका इसमें विवेचन है। सब श्रेणीके जीवोंके लिए उपयोगी एवं सर्वोत्कृष्ट परम धर्मका इतना सुन्दर सर्वाङ्गीण विचार इस शिक्षामृत ग्रन्थके अतिरिक्त किसी दूसरे ग्रन्थमें मिलना असम्भव है। विद्वज्जन निष्पक्ष होनेपर इस परम धर्मके अधिकारी हो सकते

हैं। वर्णाश्रमधर्ममें अवस्थित महोदयगण तथा वर्ण-बाह्य लोग भी इस ग्रन्थमें वर्णित उपदेशोंके अधिकारी हैं। कुण्ठित बुद्धि, मूर्ख कर्मी भी इसका आस्वादनकर श्रद्धाके साथ भवसागरको पार कर सकेंगे। पुनः उदार बुद्धिसम्पन्न तात्विक पण्डितजन भी निरपेक्ष आलोचना द्वारा इसके उपदेशोंसे आकृष्ट होकर अनायास ही परमपद प्राप्त कर सकते हैं। मतवादी सम्प्रदायोंमें आबद्ध व्यक्ति भी इन उपदेशों द्वारा अनुप्राणित होकर कुण्ठित विश्वासको छोड़कर उदार स्वभाव प्राप्त करेंगे। इसलिये हमने श्रीचैतन्य-शिक्षामृतको जीवोंके लिए परामृत धन बतलाया है।

अप्राकृत विषयमें श्रद्धाशून्य व्यक्तियोंको इन उपदेशोंको ग्रहण करनेमें रुचि नहीं होगी—यह बात सत्य है; फिर भी उनके सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि समयके फेरसे किसी सुकृति द्वारा किसी-न-किसी जन्ममें वे लोग भी इस उपदेशामृतके अधिकारी होंगे।

कुछ लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुके नामपर विधर्म, छल धर्म, व्यभिचारपूर्ण अधर्म आदि दुष्टमतोंका प्रचार कर रहे हैं। विचार शक्तिरहित, विषयाविष्ट बहुतसे लोग इन कुमतोंको श्रीमन्महाप्रभुका पवित्र मत समझकर यथार्थ उपदेशोंसे वञ्चित रह जाते हैं। उनके लिए हम दीर्घ निःश्वास परित्यागकर दुःख किया करते हैं। श्रीमन्महाप्रभु कृपा करके उनका उद्धार करें।

श्रीचैतन्याब्द—४२०

श्रीनवद्वीप-गोद्रुमवासी
अकिञ्चन दीन वानप्रस्थ
केदारनाथ भक्तिविनोद

निवेदन

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता-सभापति अस्मदीय गुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा नामक ग्रन्थकी प्रस्तावनामें लिखा है-"श्रीठाकुर भक्तिविनोदने दशमूलतत्त्वका प्रकाशकर गौड़ीय वैष्णव जगतमें युगान्तर ला दिया है। केवल गौड़ीय वैष्णव जगतके लिए ही नहीं, वरन् दार्शनिक विश्वके इतिहासमें यह एक अभिनव देन है। श्री ठाकुर भक्तिविनोदने दशमूलतत्त्वके अवलम्बनपर जिन ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं, उनमें जैवधर्म, श्रीचैतन्य-शिक्षामृत और श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा—ये तीन ग्रन्थ सर्वोत्तम हैं।"

परमहंसस्वामी ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादने भी लिखा है—"श्रीचैतन्य शिक्षा-प्रणालीमें प्रथमतः प्रमाणतत्त्व और तत्पश्चात् स्वयंसिद्ध शब्द प्रमाण द्वारा नौ प्रकारके प्रमेयतत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आर्ष, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा और अर्थापत्ति आदि प्रमाणसमूह प्राकृत जगतके लिए कुछ सीमा तक उपयोगी हो सकते हैं; परन्तु प्रकृतिसे अतीत चिद्वस्तुके सम्बन्धमें श्रौत-प्रमाण (शब्द-प्रमाण) के अतिरिक्त इन इन्द्रिय-ग्राह्य प्रमाणोंकी उपयोगिता सर्वथा असम्भव है। अप्राकृतके साथ प्राकृतकी समता-स्थापन करनेका प्रयास श्रवणपथमें अवरोध प्रस्तुत करता है; उसमें श्रोताकी शरणागतिका अभाव होता है। निरपेक्ष तत्त्व-जिज्ञासु व्यक्ति श्रीमद्भागवतको ही एकमात्र अमल प्रमाण और ब्रह्मसूत्रका अद्वितीय एवं अकृत्रिम भाष्य जानकर श्रौतपथपर अग्रसर हों। तभी वे इस ग्रन्थमें वर्णित शिक्षाको समुचित रूपमें जान सकेंगे।"

जगद्गुरु श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरने भी लिखा है-"जिन लोगोंका श्रीचैतन्यदेवके प्रति दृढ़ विश्वास है और नामाश्रय भक्तिमें श्रद्धा है, वे ही इस ग्रन्थके अनुशीलनके अधिकारी हैं।

साधनभक्तिके जितने अङ्ग हैं, उनमें केवल श्रीनामाश्रय द्वारा ही सर्वसिद्धि सुलभ है—ऐसे सुदृढ़ विश्वासी ही सर्वोत्तम साधक हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह शिक्षा श्रीशिक्षाष्टकमें ही मिलती है। श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ही समस्त शास्त्रोंका सार और जीवमात्रके लिए परमामृत धन है।"

जैवधर्मका प्रथम एवं द्वितीय खण्ड बंगला भाषामें तथा पूर्णाङ्ग संस्करण हिन्दीमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा पहले ही प्रकाशित हो चुका है। श्रीसमितिके सह-सभापति त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराजकी ऐकान्तिक प्रचेष्टा, यत्नाग्रह और सेवाध्यक्षतामें मथुराधामस्थ श्रीकेशवजी गौड़ीय मठसे श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका हिन्दी संस्करण अब प्रकाशित होनेसे हिन्दी भाषा-भाषी शिक्षित सज्जनोंका विशेष उपकार होगा। इससे पहले इस ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद पारमार्थिक मासिक श्रीभागवत पत्रिकाके सप्तम वर्षकी नवम संख्यासे १८वें वर्षकी १२वी संख्यातक धारावाहिक रूपमें प्रकाशित हुआ है। वही इसका प्रथम संस्करण है। श्रीचैतन्य मठ और श्रीगौड़ीय मठसे श्रील सरस्वती प्रभुपाद द्वारा इस ग्रन्थके अंग्रेजी एवं तेलगु संस्करण भी प्रकाशित और प्रचारित हो चुके हैं।

श्रीगौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीगोविन्द-भाष्यकी रचनाके समय अपने पूर्वगुरु श्रीमन्मध्वाचार्य-चरणके दार्शनिक विचारोंका सारमर्म स्वरचित प्रमेय-रत्नावली ग्रन्थमें प्रकाशित किया है। उसमें "श्रीमध्वः प्राह" श्लोकमें श्रीमध्व-कथित नौ प्रमेयोंका श्रीचैतन्यमहाप्रभुने जीवोंके लिए उपदेश किया है—ऐसा लिखा है। श्रील बलदेव विद्याभूषण और श्रीजीव गोस्वामी प्रभुके षटसन्दर्भके तत्त्वसिद्धान्तके अनुरूप श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने श्रीदशमूलके "आम्नाय प्राह" श्लोककी रचना की है। तत्पश्चात् उन्होंने श्रीवैष्णव-सिद्धान्त-माला और दशमूलतत्त्वके सम्बन्धमें श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाकी रचनाएँ की। तत्पश्चात् जैवधर्म नामक ग्रन्थमें उसे विस्तारपूर्वक पुनः प्रकाशित किया। उन्होंने तत्त्वसूत्र, श्रीगौराङ्गस्मरणमङ्गल-स्तोत्र, श्रीहरिनाम चिन्तामणि आदि ग्रन्थोंमें भी दशमूलतत्त्वका वर्णन किया है।

सन् १८८६ ई. में सर्वप्रथम श्रील ठाकुर भक्तिविनोद-रचित श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। वह संस्करण समाप्त होनेपर पुनः १९०५ई. में सम्पूर्ण संशोधित एवं परिवर्द्धित आकारमें प्रकाशित हुआ। इसमें भी सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनात्मक दशमूल-शिक्षाका विशेष रूपमें वर्णन है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका सार आलोचना करनेके लिए हमें शिक्षाष्टक एवं श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थोंकी आलोचना करना आवश्यक है। उसके अनुकूलमें श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक, श्रीचैतन्य भागवत और गौड़ीयाचार्य-वर्गके षट्सन्दर्भ आदि ग्रन्थ भी विशेष रूपसे आलोच्य हैं। श्रीमन्महाप्रभुने अपनी गृहस्थलीलामें जीवोंको श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन करनेकी कर्त्तव्यताका प्रचार किया। पुनः संन्यास ग्रहण करनेपर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य, श्रीराय रामानन्द, श्रीवैंकट भट्ट, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरघुपति उपाध्याय, श्रीवल्लभ भट्ट और श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदिके प्रति उपदेशोंमें श्रीमन्महाप्रभुकी सम्पूर्ण शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं।

श्रीचैतन्य-शिक्षामृतकी आठ वृष्टियोंमें सामान्यतः परमार्थ-धर्म, गौणविधि या धर्माचार, मुख्यविधि या वैधीभक्ति, रागानुगाभक्ति, भावभक्ति, प्रेमभक्ति और रसविचारकी सुस्पष्ट एवं विशद आलोचनाके साथ सारगर्भित एवं ठोस उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवकी शिक्षा-प्रणालीको जाननेके लिए अचिन्त्यभेदाभेद तत्वका अनुशीलन करना परम आवश्यक है। अखिल रसामृत मूर्त्ति—"रसो वै सः" लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र ही श्रीनामभजनके मुख्य विषय-विग्रह हैं और श्रीनामभजन या श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तन द्वारा ही अष्टयाम लीलाकी स्फूर्त्ति सम्भव है। यही श्रीवार्षभानवी-दयितदासकी वाणी "कीर्त्तन प्रभावे स्मरण हइबे, सेकाले भजन निर्जन सम्भव" में परिस्फुट है।

जैवधर्म और श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाकी भाँति श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थमें भी दशमूल-शिक्षाका वर्णन है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने कुकर्मी, कुज्ञानी और योगियोंके अधर्म, छल धर्म, विधर्मके साथ तुलनात्मक आलोचना द्वारा सनातन धर्मके वैशिष्ट्यकी स्थापना की

है। इसमें वेद, वेदान्त, उपनिषद्, गीता, भागवतादिके गूढ़ रहस्य और गौड़ीय गोस्वामी गुरुवर्गके दार्शनिक तत्त्वोंका अत्यन्त सहज, सरल, प्राञ्जल भाषामें प्रकाशित होनेके कारण उनका अतिमर्त्यत्व प्रमाणित होता है। जैवधर्म आदि ग्रन्थोंकी भाँति यह ग्रन्थ भी सरल, सुबोध एवं मार्मिक अभिव्यञ्जना एवं अभिव्यक्तिके कारण रसिक तथा जिज्ञासु पाठकोंके लिए हृदयग्राही सिद्ध होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थके सम्बन्धमें कुछ अधिक बतलानेकी धृष्टता नहीं करना चाहता। श्रील गुरुपादपद्म, श्रील सरस्वती प्रभुपाद और श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी प्रस्तावना, भूमिका और विबोधन आदिमें ही आलोच्य ग्रन्थकी विशेष महिमा-माहात्म्य प्रकाशित है। उनकी शुभेच्छा शुभाशीर्वाद ही जगज्जीवोंके आत्यन्तिक कल्याणकी प्राप्तिका एकमात्र सहाय और सम्बल समझता हूँ। अलमति विस्तरेण।

श्रीलगुरुपादपद्मकी तिरोभाव तिथि
शारदीय रासपूर्णिमा,
११ कार्त्तिक, ४९९ गौराब्द

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव दासानुदास
त्रिदण्डिभिक्षु श्रीभक्तिवेदान्त वामन
श्रीनवद्वीप धाम

प्रस्तावना

मदीय परमाराध्य नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी कृपा एवं प्रेरणासे आज श्रीश्रीचैतन्य-शिक्षामृत स्वयंभगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनाभिन्न कलियुग-पावनावतारी शचीनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभुके आविर्भावकी पञ्चशत वर्षपूर्त्तिके उपलक्ष्यमें, उनकी अतिमर्त्य शिक्षाओंसे सम्वलित श्रीचैतन्य-शिक्षामृत नामक ग्रन्थका हिन्दी-संस्करण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। मूल ग्रन्थ बंगला-भाषामें है। इसके रचयिता हैं—आधुनिक विश्वमें भक्ति-भागीरथीके पुनः प्रवर्त्तक, श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग परिकर, सप्तम गोस्वामी श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर। ये श्रीमन्महाप्रभुजीके मनोऽभीष्ट हरिनाम एवं शुद्धाभक्तिका वर्त्तमान विश्वमें प्रचार-प्रसार करनेके लिए जगतीतलपर अवतरित हुए थे। पश्चिम बंगालके श्रीधाम नवद्वीपके अन्तर्गत श्रीमायापुरके निकट वीरनगर नामक ग्राममें एक शिक्षित-सम्भ्रान्त एवं उच्च कुलमें २ सितम्बर, सन् १८३८ ई. को आविर्भूत हुए। इनका तिरोधान कलकत्ता महानगरीमें २३ जून, सन् १९१४ ई. को हुआ था। यदि इनका आविर्भाव जगतमें न हुआ होता, तो श्रीचैतन्य महाप्रभुजीका आविर्भावस्थल—श्रीधाम मायापुर और श्रीमन् महाप्रभुजीकी विशुद्ध शिक्षाएँ आज धरातलसे सदाके लिए विलुप्त हो गई होतीं। अतः गौड़ीयवैष्णव-जगत इनका चिरऋणी है।

आज विश्वके कोने-कोनेमें जो हरिनाम-संकीर्त्तनकी धूम मच रही है तथा श्रीगौर-कृष्णकी भक्तिकी उत्तुङ्ग तरङ्गें विश्वको अप्लावित कर रही हैं, उसके पुनः प्रवर्त्तक श्रीचैतन्यलीलाके व्यास ये जगद्गुरु श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ही हैं। इन्होंने संस्कृत, बंगला, अँग्रेजी, हिन्दी, उर्दू और उड़िया आदि विभिन्न भाषाओंमें लगभग १०० भक्तिग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं। श्रीचैतन्य-शिक्षामृत उनमेंसे एक प्रधान ग्रन्थ है।

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायैक-संरक्षक, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति तथा समितिके अन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता आचार्य-केशरी, मदीय परमाराध्य श्रीगुरुदेव परमहंसकुल-चूड़ामणि ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीचरणने स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके अनेकों ग्रन्थोंका बंगला भाषामें पुनः प्रकाशन किया है। उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि गौड़ीय वैष्णव-आचार्यों, विशेषतः श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके संस्कृत एवं बंगला भाषाके भक्तिग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हों, जिससे हिन्दी जन-साधारणमें भी श्रीमन्महाप्रभुजी द्वारा आचरित एवं प्रचारित विशुद्ध भक्ति-प्रेमधर्मका व्यापक रूपमें प्रचार और प्रसार हो। इसलिए उन्होंने श्रीमथुरा धाममें श्रीकेशवजी गौड़ीय मठकी स्थापना १३ दिसम्बर (१९५६ ई.) में करके वहींसे श्रीभागवत पत्रिका नामक पारमार्थिक मासिक पत्रिकाका प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ किया। उनकी विशेष कृपा और प्रेरणासे उक्त पत्रिकामें जैवधर्म, श्रीचैतन्य-शिक्षामृत और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा आदि ग्रन्थोंके अनुवाद क्रमशः प्रकाशित हुए। इनमेंसे प्रसिद्ध जैवधर्म और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा आदि ग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण पृथक् रूपसे प्रकाशित हो चुके हैं। आज श्रीचैतन्य-शिक्षामृतका हिन्दी-संस्करण भी उन्हीं महापुरुषकी कृपासे पाठकोंके करकमलोंमें उपस्थित है। श्रीभागवत पत्रिकामें प्रकाशित श्रीचैतन्य-शिक्षामृतको प्रथम संस्करण समझना चाहिए।

श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षा एक ही साथ सरल भी है और गम्भीर भी है। सरल, इसलिए कि मूर्ख, बोधशून्य, निरक्षर व्यक्ति भी इसमें कथित धर्ममें सहज ही प्रवेश कर सकता है; और गम्भीर इसलिए कि तर्क-वितर्क और शास्त्रज्ञान पारङ्गत विद्वज्जन भी गम्भीरतासे सोच-विचारकर इसे ग्रहणकर सकेंगे। इसमें वेद, वेदान्त, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता, षड़दर्शन तथा तन्त्रादि निखिल शास्त्रोंका सार संकलित है। यही नहीं, विदेशीय एवं स्वदेशीय प्रचलित धर्मोंमें जो भी सत् शिक्षाएँ हैं, वे इसमें पाई जा सकती है; जो उनमें नहीं हैं, वे भी यहाँ उपलब्ध हैं। गृहस्थ और त्यागी, बालक और वृद्ध, युवक एवं युवती, पुरुष और महिला, बिना किसी जाति, वर्ण और

धर्मके भेदसे सभी लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाको ग्रहणकर सहज स्वाभाविक रूपमें सर्वश्रेष्ठ कल्याणकी प्राप्तिकर सकते हैं।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्त्तमान सभापति एवं आचार्य, मेरे सतीर्थवर परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज एक परमोत्साही, पराविद्यानुरागी एवं प्रभावशाली आचार्य हैं। इन्होंने स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त पूर्वाचार्योंके अनेकानेक ग्रन्थोंका संस्कृत, बंगला एवं अँग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओंमें सम्पादन और प्रकाशन किया है और कर रहे हैं। उनकी विशेष कृपा एवं सहानुभूतिसे ही श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हो रहा है। ये अस्मदीय परमाराध्य श्रीश्रीलगुरुदेवके करकमलोंमें इसे समर्पणकर उनका प्रीति विधान करें, यही उनके श्रीचरणकमलोंमें कातर प्रार्थना है।

ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुतीकरण एवं प्रूफ-संशोधन आदि विविध सेवा कार्योंके लिए त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त पद्मनाभ महाराज, श्रीयुत ओमप्रकाश ब्रजवासी, शास्त्री, एम. ए. एल. एल. बी., श्रीमान शुभानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान प्रेमानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान कृष्णप्रेम ब्रह्मचारी, श्रीमान रघुनाथदास ब्रह्मचारी और श्रीमान सुधन्य ब्रह्मचारी आदिकी सेवा-प्रचेष्टा अत्यन्त सराहनीय रही है। मुद्रण-कार्यमें सब प्रकारसे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहारके लिए श्रीमान शिवप्रकाश पचौरीजी धन्यवादके पात्र हैं। गुरुदेव इनपर कृपाशीर्वाद करें।

केवल इस ग्रन्थके प्रकाशनमें ही नहीं, अपितु अन्यान्य ग्रन्थोंके प्रकाशन तथा समितिके विभिन्न सेवा-कार्योंके लिए अर्थादि सब प्रकारसे सहायता करनेवाले, मुझे उत्साहित और प्रेरणा देनेवाले, नाम एवं प्रतिष्ठा आदिकी कामनाओंकी गन्धसे भी रहित, परम निस्पृह, महान उदार, श्रीहरि-गुरु-वैष्णवोंके प्रीति-विधानमें अपना तन-मन-धन-आत्मा सर्वस्व अर्पण करनेवाले, श्रीमन्महाप्रभुके नामपर सर्वस्व न्यौछावर करनेवाले धर्मप्राण एक परिवारका मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। गृहस्थ होते हुए भी वे युक्त वैराग्यके मूर्त्तिमान आदर्श, भजनपरायण, तृणादपि सुनीच, अमानी और मानद हैं। करुणावरुणालय शचीनन्दन श्रीगौरहरि इनपर विशेषरूपसे कृपामृत वर्षण करें।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति-पिपासु श्रद्धालु साधक एवं निरपेक्ष विद्वन्मण्डलीमें इस ग्रन्थका अवश्य ही समादर होगा। वे लोग इसका पठन-पाठनकर श्रीचैतन्यमहाप्रभुके आचरित-प्रचारित विमल प्रेमधर्ममें प्रवेश करें, यही अभीष्ट है। परदुःखकातर, भगवत्कृपाकी साक्षात् मूर्त्ति परमाराध्य श्रीश्रीगुरुदेव एवं श्रीराधाभावद्युति सुवलित करुणावरुणालय श्रीचैतन्यदेव प्रसन्न होकर हमें अपनी मनोभीष्ट सेवामें अधिकार प्रदान करें—उनके श्रीचरणकमलोंमें यही एकमात्र सकातर प्रार्थना है।

अलमति विस्तरेण।

श्रीश्रीगुरुपादपादपद्मकी
तिरोभाव-तिथि,
शारदीय रासपूर्णिमा,
भारतीयाब्द—१९०७,
२८ अक्टूबर, १९८५ई.

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव कृपालेश प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ,
पो. मथुरा। (उ. प्र.)

तृतीय सस्करणका सम्पादकीय वक्तव्य

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग और श्रीश्रीराधाविनोद-विहारीजीकी अहैतुकी अनुकम्पासे श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका यह तृतीय संस्करण पाठकोंके दृष्टिगोचर हो रहा है। यह ग्रन्थ बहुत समयसे अप्रकाशित था। यद्यपि श्रद्धालुभक्तगण इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करनेके लिए बार-बार अनुरोध कर रहे थे, तथापि अनेकानेक ग्रन्थोंके प्रकाशन तथा विश्वभरमें श्रीमन्महाप्रभु द्वारा आचरित और प्रचारित शुद्धभक्तिके प्रचारमें व्यस्त रहनेके कारण इस विषयमें मनोयोग नहीं दे सका। संशोधित ग्रन्थको अधिकाधिक उपयोगी बनानेका अथाह प्रयास किया गया है। अध्ययनकी सुविधाके लिए ग्रन्थको इस बार बड़े टाइपमें छापा गया है।

कम्प्यूटर द्वारा पुरे ग्रन्थकी अक्षर-योजना की गई है। श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् उत्तमकृष्ण ब्रह्मचारीने कम्पोजिंग की है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् ओमप्रकाश ब्रजवासी तथा श्रीमान् परमेश्वरी ब्रह्मचारीने प्रूफ-संशोधन किया है। श्रीमती शान्ति दासीने अक्लान्त परिश्रम द्वारा ले-आउट आदि सेवा कार्य करके इस ग्रन्थको बहुत सुन्दर कलेवर प्रदान किया है। श्रीमान् कृष्णकारुण्य ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान दिया है। इन सबकी सेवाचेष्टा अत्यन्त सराहनीय और उल्लेखयोग्य है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपा-आशीर्वाद वर्षण करें—यही उनके श्रीचरणकमलोंमें प्रार्थना है।

इस ग्रन्थमें यदि कोई भूल दृष्टिगोचर हो तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे। आाशा करता हूँ कि पाठकोंका सद्भाव और सुझाव मुझे पूर्ववत् मिलता रहेगा। उनकी सम्मतियोंका मैं स्वागत करूँगा।

श्रीललिता सप्तमी
३१ अगस्त २००६ ई.
५२० श्रीचैतन्याब्द

श्रीगुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रथम खण्ड

प्रथम वृष्टि

सामान्यरूपसे परमार्थ-धर्मनिर्णय

श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः।

प्रथम धारा

उपक्रम

मङ्गलाचरण

भ्रमसे उत्पन्न, असम्पूर्ण और परस्पर विवदमान सिद्धान्तसमूह जिस कृष्णभक्तिमें सामञ्जस्यको प्राप्त होते हैं, उन भक्तिदाता श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको प्रणामकर श्रीश्रीचैतन्य-शिक्षामृत नामक ग्रन्थका प्रणयन आरम्भ कर रहा हूँ।

तीन प्रकारके पदार्थ

संसारमें तीन प्रकारके पदार्थ हैं—ईश्वर, चेतन और जड़।[१] जिन वस्तुओंमें इच्छाशक्ति नहीं है, वे जड़ हैं। मिट्टी, पत्थर, जल, अग्नि, वायु, आकाश, गृह, वन, धान्य, वस्त्र, शरीर आदि इच्छारहित वस्तुएँ जड़पदार्थ हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि प्राणी चेतन हैं। इनमें विचारशक्ति और इच्छाशक्ति होती हैं। मनुष्यमें जैसी विचारशक्ति है, वैसी और किसी चेतन पदार्थमें नहीं है। इसीलिए मनुष्यको समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंमें राजा कहा जाता है।[२]

---

[१] सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥
(श्रीमद्भा. ११/११/६)

[२] सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदन्दशूकान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
(श्रीमद्भा. ११/९/२८)

मूल सृष्टिकर्त्ता

ईश्वर समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंके सृष्टिकर्त्ता हैं। उनका जड़शरीर नहीं होनेके कारण हम उन्हें जड़-आँखोंसे देख नहीं पाते। वे पूर्णस्वरूप और शुद्ध चेतन पदार्थ हैं। वे हमारे सृष्टिकर्त्ता, पालक और नियन्त्रण करनेवाले हैं।[३] उनकी इच्छा होनेपर हमारा कल्याण होता है। उनकी इच्छा होनेपर हमारा सर्वनाश हो सकता है। वे भगवत्-स्वरूपमें नित्य वैकुण्ठधाममें विराजमान रहते हैं। वे समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। उनकी इच्छासे ही समस्त जगतका कार्य चल रहा है।

ईश्वरका आकार जड़ नहीं है

जैसे जड़पदार्थका एक स्थूल आकार होता है, भगवान्‌का वैसा कोई जड़ या स्थूल आकार नहीं होता। इसलिए हम जड़ेन्द्रियोंके द्वारा उन्हें देख नहीं पाते और केवलमात्र इसी कारणसे वेदोंमें उन्हें निराकार कहा गया है।

भगवान्‌का चिन्मय स्वरूप

प्रत्येक पदार्थका अपना-अपना एक स्वरूप होता है। अतएव ईश्वरका भी एक स्वरूप है।[४] जड़ वस्तुमात्रका स्वरूप जड़मय है। चेतन पदार्थका स्वरूप चिन्मय है। हम चेतन पदार्थ हैं, परन्तु हम जड़शरीरके द्वारा आवृत हैं। अतएव हमारा चिन्मय स्वरूप जड़मय शरीरसे आच्छादित हो गया है। ईश्वर विशुद्ध चिन्मय तत्त्व हैं। अतएव चिन्मय स्वरूपको छोड़कर उनका और दूसरा स्वरूप नहीं है। वह चिन्मय स्वरूप ही उनका आकार है। उस आकारको हम केवल

---

[३] स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥
(श्रीमद्भा. ११/३/३५)

[४] अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मयसदुज्वलविग्रहस्य गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/३२)

अपने शुद्ध चिन्मय नेत्रोंसे अर्थात् भक्तिपूर्ण नेत्रोंसे ही देख सकते हैं।[५] जड़नेत्रोंसे उसे कदापि नहीं देख सकते।

नास्तिक स्वभाव

कुछ भाग्यहीन व्यक्ति ईश्वरमें विश्वास नहीं करते। इसका कारण यह है कि उनकी ज्ञानमयी आँखें अभी बन्द हैं। जड़नेत्रोंसे ईश्वरके आकारको नहीं देख पानेके कारण वे यह सोचते हैं कि ईश्वर नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। जन्मसे अन्धे व्यक्ति जैसे सूर्यके प्रकाशको नहीं देख पाते, वैसे ही नास्तिक व्यक्ति ईश्वरमें विश्वास नहीं कर पाते।[६] स्वभावतः सभी मनुष्य ईश्वरमें विश्वास करते हैं। केवल जो लोग बाल्यकालसे कुसङ्गमें पड़कर कुतर्ककी शिक्षा पाते हैं, वे ही क्रमशः कुसंस्कारवश ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते। इसमें उनकी अपनी हानिके अतिरिक्त ईश्वरकी क्या हानि हो सकती है?

वैकुण्ठधाम भक्ति द्वारा प्राप्य

वैकुण्ठधाम कहनेसे किसी एक जड़मय स्थानकी कल्पना करना उचित नहीं है। मद्रास, बम्बई, कश्मीर, कलकत्ता, लण्डन, पेरिस आदि सभी स्थान जड़मय हैं। वहाँ जानेके लिए हमें बहुतसे जड़मय भूभागोंका अतिक्रमण करना पड़ता है। जहाज या रेलगाड़ीसे जानेके लिए भी काफी समय लगता है। जड़शरीरको पदचालनाकर वहाँ जाना पड़ता है। किन्तु वैकुण्ठ उनके जैसा कोई जड़मय स्थान नहीं है। वह सम्पूर्ण जड़जगतसे अतीत एक स्थान विशेष है। वह चिन्मय,

---

[५] प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/३८)

[६] प्रवृतिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरं।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
(श्रीगी. १६/७-८)

नित्य और निर्दोष है।[७] न तो उसे जड़-आँखोंसे देखा जा सकता है और न ही मनके द्वारा उसका चिन्तन किया जा सकता है। उस अचिन्त्य धाममें परमेश्वर विराजमान रहते हैं। यदि हम उन्हें सन्तुष्ट कर सकें, तो उनकी कृपासे हम भी वहाँ पहुँचकर नित्यकाल उनकी सेवा कर सकते हैं।

जड़जगत और दुःख

इस संसारमें हम जिसे सुख कहते हैं, वह नित्य नहीं है, बल्कि कुछ क्षण रहकर फिर अन्तर्हित हो जाता है। यहाँ सब कुछ दुःखमय है। जन्म प्राप्त करना बहुत कष्टप्रद और दुःखोंसे पूर्ण है। जन्म होनेपर आहार आदिके द्वारा शरीरकी पुष्टि होती है। यदि आहार आदिका अभाव हो तो वह दुःखजनक है। रोग-पीड़ा सर्वदा ही वर्त्तमान है। सर्दी, गर्मी आदि अनेक प्रकारके कष्ट हैं। इन सभी कष्टोंको दूर करनेके लिए बहुतसे शारीरिक कष्ट स्वीकारकर अर्थका संग्रह करना पड़ता है। गृहादिका निर्माण न करनेपर रहनेकी सुविधा नहीं होती। विवाहादि करके सन्तानादिकी उत्पत्ति करनी पड़ती है। क्रमशः वृद्ध होनेपर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इतना ही नहीं, दूसरोंके साथ वाद-विवाद आदि कार्योंसे अनेक प्रकारकी यन्त्रणाएँ भी प्राप्त होती हैं। तात्पर्य यह है कि संसारमें 'अमिश्र सुख' नामक कोई सुख नहीं है। सभी दुःखों और अभावोंकी तात्कालिक निवृत्तिको साधारण व्यक्ति 'सुख' समझते हैं। ऐसे संसारमें रहना

---

[७] श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥
स यत्र क्षीराब्धिः स्रवति सुरभीभ्यश्च सुमहान्
निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये॥
(ब्रह्मसंहिता ५/५६)

हमारे लिए कष्टकर है। परमेश्वरके वैकुण्ठधामको प्राप्त करनेपर अनित्य सुख-दुःख कुछ भी नहीं रहता। अजस्र नित्यानन्दको हम प्राप्त कर सकेंगे। अतएव परमेश्वरको सन्तुष्ट करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

ज्ञान उदित होनेके साथ-ही-साथ ईश्वरका भजन करना अति आवश्यक है

जबसे मनुष्यको ज्ञान होता है, तभीसे उसे परमेश्वरको सन्तुष्ट करनेमें लग जाना चाहिए। इसीमें उनका श्रेय है।[८] अभी हम संसारका सुख भोग करेंगे तत्पश्चात् वृद्धावस्थामें ईश्वर आराधना करेंगे, ऐसा सोचनेसे कुछ नहीं होगा। समय अत्यन्त दुर्लभ है। जिस दिनसे कर्त्तव्य ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी दिनसे भगवत्-आराधनामें तत्पर हो जाना आवश्यक है; क्योंकि विशेषकर मानवजीवन अत्यन्त दुर्लभ और अस्थिर है।[९] कब मृत्यु होगी, कुछ नहीं कहा जा सकता। बाल्यकालमें परमेश्वरका भजन नहीं हो सकता, ऐसा सोचना अनुचित है। हम इतिहासमें देखते हैं कि ध्रुव और प्रह्लादने अत्यन्त शैशवावस्थामें ही परमेश्वरकी कृपा प्राप्त की थी। यदि कोई मनुष्य किसी कार्यको कर सकता है, तो मनुष्यमात्र ही यत्न करनेपर उस कार्यको कर सकेगा, इसमें सन्देह ही क्या है? विशेषतः बचपनसे जिस कार्यका अभ्यास किया जाता है, वह क्रमशः स्वाभाविक बन जाता है।

---

[८] कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥
ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥
(श्रीमद्भा. ७/६/१, ५)

[९] लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतःस्यात्॥
(श्रीमद्भा. ११/९/२९)

भजनका प्रयास करनेके चार कारण

परमेश्वरको सन्तुष्ट[१०] करनेके लिए मनुष्य जो कुछ प्रयास करते हैं, उसे अवस्था भेदसे चार विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। वे हैं—भय, आशा, कर्त्तव्यबुद्धि और राग। नरक-भय, अर्थाभाव, पीड़ा और मृत्युसे भयभीत होकर जो भगवान्‌का भजन करते हैं, वे भयसे अनुप्रेरित होकर ईश्वरकी आराधना करते हैं। जो व्यक्ति सांसारिक उन्नतिके लिए विषय सुखकी प्रार्थना करते हुए हरिभजन करते हैं, वे विषय सुखकी आशाके द्वारा चालित होकर ईश्वरका भजन करते हैं। किन्तु भगवान्‌के भजनमें इतना आनन्द और सुख है कि पहले भय या आशासे उसमें प्रवृत्त होकर भी अन्तमें अनेक व्यक्ति भय और आशाको त्यागकर शुद्ध भगवद्भजनमें प्रवृत्त हो पड़ते हैं। जो व्यक्ति सृष्टिकर्त्ताके प्रति कृतज्ञता स्वीकार करते हुए उनकी उपासना करते हैं, वे लोग कर्त्तव्यबुद्धिसे प्रेरित होकर भगवद्भजन करते हैं। जो भय, आशा या कर्त्तव्यबुद्धिके द्वारा प्रेरित न होकर स्वभावतः ही ईश्वरके भजनमें आनन्द प्राप्त करते हैं, वे राग (प्रेम) द्वारा उस कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। किसी एक वस्तुको देखनेमात्रसे ही बुद्धि जिस प्रवृत्तिके द्वारा उसके प्रति विचार करनेके पूर्व ही दौड़ पड़ती है, उसी प्रवृत्तिका नाम ही राग है। परमेश्वरका चिन्तन करनेमात्रसे ही जिनके चित्तमें वह प्रवृत्ति उदित होती है, वे रागके द्वारा ईश्वरभजन करते हैं।

---

[१०] तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः।
धर्मादयः किमगुणेन च कांक्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः॥
(श्रीमद्भा. ७/६/२५)

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ताः।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुःसः॥
(श्रीमद्भा. ७/६/२६)

राग भजनका स्वरूप और परिचय

भय, आशा और कर्त्तव्यबुद्धिके द्वारा जो उपासक ईश्वरभजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनका भजन उतना शुद्ध नहीं होता।[११] रागमार्ग द्वारा जो ईश्वरके भजनमें प्रवृत्त हैं, वे ही यथार्थ साधक हैं। जीव और ईश्वरमें परस्पर एक अत्यन्त निगूढ़ सम्बन्ध है। रागके उदय होनेपर उस सम्बन्धका परिचय पाया जाता है। वह सम्बन्ध नित्य होनेपर भी जड़बद्ध जीवोंमें आच्छादित रहता है। सुयोग मिलते ही वह सम्बन्ध प्रकाशित हो जाता है। दियासलाईको घिसनेपर जिस प्रकार अग्निका प्रकाश होता है, उसी प्रकार साधन करते-करते सम्बन्ध प्रकाशित हो जाता है। भय, आशा और कर्त्तव्यबुद्धिके द्वारा भजन करते-करते बहुतसे व्यक्तियोंमें वह सम्बन्ध प्रकाशित हुआ है। ध्रुवने पहले राज्यकी प्राप्तिके लिए हरिभजन किया था। परन्तु साधन करते-करते उनके हृदयमें उस पवित्र सम्बन्धजनित रागके उदय होनेपर उन्होंने सांसारिक सुखकी प्राप्तिके लिए कोई वर नहीं माँगा।

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य मूलक वैधभजन

भय और आशा अत्यन्त तुच्छ हैं। साधककी यदि सुबुद्धि हो जाए तो वह भय और आशाका परित्याग कर देता है और उस स्थितिमें उसमें कर्त्तव्यबुद्धि प्रबल हो जाती है। भगवान्‌के प्रति जब तक रागका उदय नहीं होता, तब तक साधक कर्त्तव्यबुद्धिका परित्याग नहीं कर सकता। कर्त्तव्यबुद्धिसे दो प्रकारके विचारोंकी उत्पत्ति होती है। एक विधिका सम्मान और दूसरा अविधिका त्याग। पूर्ववर्ती महापुरुषोंने भगवान्‌का भजन करनेके लिए जिन पद्धतियों (नियमों) को विचार द्वारा संस्थापितकर शास्त्रोंमें लिपिबद्ध किया है, उन्हींको विधि कहते हैं।[१२]

---

[११] गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभोः॥
(श्रीमद्भा. ७/१/३१)

[१२] एइ त' साधनभक्ति—दुइ त' प्रकार।
एक 'वैधीभक्ति', 'रागानुगाभक्ति' आर॥ (*अगले पृष्ठपर*)

कर्त्तव्यबुद्धिके शासनसे ही शास्त्रोंके शासन और विधियोंका आदर होता है।

ईश्वर विश्वास और भजन

देश-विदेश और द्वीपद्वीपान्तर निवासी मनुष्योंके इतिहास और वृत्तान्तकी आलोचना करनेपर यह स्पष्ट ही जाना जा सकता है कि ईश्वर-विश्वास मनुष्य जातिका एक सर्वसाधारण धर्म है। यद्यपि असभ्य वन्यजातिके मनुष्य पशुओंकी तरह पशु मांसका भक्षणकर जीवन निर्वाह करते हैं तथापि सूर्य, चन्द्र, बड़े-बड़े पर्वतों, नद-नदियों और वृक्षोंको दण्डवत्प्रणामपूर्वक उन्हें दाता और नियन्ता समझकर उनकी पूजा करते हैं। इसका क्या कारण है? जीवके नितान्त बद्ध होनेपर भी जब तक उसकी चेतनता पूर्ण रूपसे आच्छादित नहीं होती, तब तक उसमें चेतन धर्मका परिचयस्वरूप ईश्वर-विश्वास कुछ-न-कुछ अंशोंमें अवश्य प्रकाशित होता रहता है।[१३]

रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय।
'वैधीभक्ति' बलि' तारे सर्वशास्त्रे गाय॥
दास-सखा-पित्रादि-प्रेयसीर गण।
रागमार्गे निज-निज-भावेर गणन॥
(चै. च. म. २२/१०५, १०६, १५७)

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/३८)

[१३] कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥
तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥
किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षः किंपुरुषादयः।
बह्वयस्तेषां प्रकृतयो रजः सत्त्वतमोभुवः॥ (*अगले पृष्ठपर*)

तीन प्रकारकी नास्तिकता

मनुष्य जब सभ्य अवस्थाको प्राप्तकर नाना प्रकारकी विद्याओंकी आलोचना करता है, तब कुतर्कके द्वारा उसकी चेतनता आच्छादित होनेपर वह नास्तिक या अभेद निर्वाणवादी हो पड़ता है। ये सभी कुविश्वास केवल दुर्बल जीवोंकी अस्वस्थताके लक्षण हैं—यही समझना चाहिए। नितान्त असभ्य अवस्था और सुन्दर ईश्वर-विश्वासपूर्ण अवस्थाके बीचमें मानवजीवनकी तीन गौण अवस्थाएँ देखी जाती हैं। उन तीनों अवस्थाओंमें ही नास्तिक्यवाद, जड़वाद, सन्देहवाद और निर्वाणवादरूपी पीड़ाएँ जीवोंकी उन्नतिमें बाधक होती हैं और किसी-किसीको विपरीत मार्गमें ले जाती हैं। उन अवस्थाओंमें सभी व्यक्ति इन वादोंके द्वारा आक्रान्त होंगे ही, ऐसा नहीं है। जो लोग इन रोगोंसे पीड़ित हैं, वे उन अवस्थाओंमें आबद्ध होकर उच्च जीवनका अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। असभ्य वन्यजातिके व्यक्ति सभ्यता, नीति और विद्याकी निपुणतासे अति शीघ्र ही वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हैं। ऐसा करनेपर वे भगवद्भजनके अनुकूल भक्त-जीवन प्राप्त करते हैं। यही मानव-जातिकी स्वाभाविक उन्नतिका क्रम है। किन्तु उक्त बाधाओंके उपस्थित होनेपर एक अस्वाभाविक अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

मनुष्योंमें परस्पर देह और मनका भेद

भिन्न-भिन्न देशों एवं भिन्न-भिन्न द्वीपोंमें रहनेवाले मनुष्योंका स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। उनका मुख्य स्वभाव सर्वत्र एक ही प्रकारका होनेपर भी गौण स्वभाव भिन्न-भिन्न रूपमें देखा जाता है। मुख्य प्रकृति एक होनेपर भी संसारमें ऐसे दो मनुष्य नहीं पाए जा सकते, जिनकी गौण प्रकृति सम्पूर्ण रूपसे एक समान हो। जब

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा।
यथा प्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयोऽपरे॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/३-८)

एक गर्भसे जन्म ग्रहण करनेपर भी दो सगे भाईयोंकी आकृति और प्रकृति परस्पर भिन्न-भिन्न होती है और कभी भी सब प्रकारसे एक जैसी नहीं होतीं, तब भिन्न-भिन्न देशोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले सभी मनुष्य एक जैसे कैसे हो सकते हैं? भिन्न-भिन्न देशोंके जल, वायु, पर्वत, वन इत्यादिका सन्निवेश, खाद्य-द्रव्यादि और परिच्छदोपयोगी (वस्त्र) सभी द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। इससे उन-उन देशोंमें उत्पन्न मनुष्योंकी आकृति, प्रकृति, व्यवहार, परिच्छद (पहनावा) और आहार स्वभावतः भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। मनके भाव भी प्रत्येक देशमें अलग-अलग होते हैं। उनके अन्तर्गत ईश्वरभाव मुख्यांशमें एक होनेपर भी गौणांशमें भिन्न-भिन्न प्रकारका हो जाता है इसलिए देश-विदेशमें जिस समय असभ्य अवस्थाको अतिक्रमकर मनुष्योंकी क्रमशः सभ्यावस्था, वैज्ञानिक-अवस्था, नैतिक अवस्था और भक्तावस्था प्राप्त होती हैं, तब क्रमशः भाषा-भेद, परिच्छद-भेद, खाद्य-भेद और मनोभाव-भेदके अनुसार ईशोपासनाकी प्रणाली भी भिन्न-भिन्न हो पड़ती हैं। निरपेक्ष होकर विचार करनेपर प्रतीत होता है कि ऐसी गौण विभिन्नताओंके रहनेपर भी कोई हानि नहीं हो सकती। मुख्य भजन विषयमें ऐक्य रहनेसे ही सिद्धिकालमें कोई दोष नहीं रह जाता। अतएव श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी यही आज्ञा है कि विशुद्ध सत्त्वस्वरूप भगवान्‌का भजन करो, परन्तु अन्यान्य अधिकारियोंकी भजन-प्रणालीकी निन्दा मत करो।[१४]

विभिन्न धर्मोंमें पाँच प्रकारके भेद

उपर्युक्त कारणोंसे भिन्न-भिन्न देशीय मनुष्योंके द्वारा प्रचारित भिन्न-भिन्न धर्मोंमें कुछ भेद देखे जाते हैं—

(१) आचार्य भेद।

(२) उपासकोंकी मनोवृत्ति और भजन-अनुभाव भेद।

(३) उपासनाकी प्रणाली भेद।

---

[१४] अन्यदेव अन्यशास्त्र निन्दा ना करिब। (चै. च. म. २२/११६)
श्रद्धां भागवते शास्त्रे अनिन्दामन्यत्र चापि हि। (श्रीमद्भा. ११/३/२६)

(४) उपास्यतत्त्वके सम्बन्धमें भाव और क्रिया भेद।

(५) भाषा-भेदानुसार नाम और वाक्यादि भेद।

(१) आचार्य भेद

आचार्य भेदसे किसी देशमें ऋषियोंका, किसी देशमें मुहम्मद आदि प्रचारकोंका, किसी देशमें ईसामसीह आदि धर्मात्माओंका और अन्यान्य देशोंमें कई विद्वानोंका विशेष सम्मान किया जाता है। उन-उन सभी आचार्योंका यथायोग्य सम्मान करना ही उन-उन देशवासियोंका कर्त्तव्य है। किन्तु अपने देशके आचार्योंने जो शिक्षाएँ दी हैं, वे सब देशोंके आचार्योंकी शिक्षाओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, निष्ठाके लिए ऐसा विश्वास करनेपर भी अन्यान्य देशोंमें ऐसे विवादजनक विचारोंका प्रचार करना उचित नहीं है। इससे संसारका कोई कल्याण नहीं होता।

(२, ३) चिन्ता और अनुभूतिके भेदसे विभिन्न भजन—प्रणाली

उपासकोंकी मनोवृत्ति और भजन-अनुभावके भेदसे किसी देशमें आसनपर बैठकर न्यास, प्राणायाम आदि क्रियाओंके द्वारा उपासना की जाती है, कहीं लुंगी पहनकर अपने मुख्य उपासना-क्षेत्रकी ओर खड़े होकर और नीचे गिरकर दिन और रातमें पाँच बार उपासना होती है, कहींपर घुटनोंको टेककर हाथोंको जोड़ते हुए अपनी दीनताको प्रकाशकर और प्रभुके यशोंका गुणगान करते हुए उपासना-गृहमें उपासना होती हैं। इसमें भी भजनकालमें विशेष-विशेष पहनावा, आहार, व्यवहार, पवित्रता, अपवित्रता आदि नाना प्रकारके स्थानीय विचार देखे जाते हैं।

(४) क्रिया और भाव भेदसे अर्चन भेद

भिन्न-भिन्न धर्मोंकी उपासनाओंको देखनेपर उपासनाकी प्रणालीमें भेद अवश्य ही देखे जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न धर्मोंके उपास्यतत्त्वके सम्बन्धमें भाव और क्रियाएँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी देखी जाती हैं। कोई-कोई अन्तःकरणमें भक्ति-विभावित होकर आत्मा, मन और जगतमें परमेश्वरकी प्रतिच्छविरूपी श्रीमूर्त्तिकी स्थापना करते हैं। उसमें तादात्म्य-भावयुक्त होकर (उसे साक्षात् भगवान् ही समझकर) उसका अर्चन करते हैं। किसी-किसी धर्ममें तार्किक वृत्तिके कारण मन-ही-मन

ईश्वरभावका चिन्तनकर उसी रूपसे उपासना की जाती है। ये लोग प्रतिमूर्त्तिको स्वीकार नहीं करते, परन्तु वस्तुतः विचार करनेपर देखा जाता है कि सभी लोग किसी-न-किसी रूपमें श्रीमूर्त्तिकी पूजा अवश्य ही करते हैं।[१५]

(५) भाषाके भेदसे ईश्वरकी विभिन्न सजाएँ

भाषा भेदके अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्ति विशेष-विशेष नामोंसे परमेश्वरका स्मरण करते हैं। धर्मको भी भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। भजनकालीन उक्तियाँ भी सभी भिन्न-भिन्न होती हैं।

अन्यान्य गौण भजन प्रणालियोंके प्रति अनिन्दा और अनसुया

इन पाँच प्रकारके भेदसे विश्वके भिन्न-भिन्न धर्मसमूह परस्पर अत्यन्त भिन्न हो पड़ते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इस पार्थक्य अथवा भेदके कारण परस्पर विवाद करना अत्यन्त अन्याय और हानिकारक है। दूसरोंके भजनके समय उनके भजन-स्थलपर उपस्थित रहते समय ऐसा समझना उचित है, जैसे अपने ही उपास्य परमतत्त्वकी किसी भिन्न प्रणालीसे उपासना हो रही है। मेरे भिन्न संस्कारके कारण मैं इस प्रणालीमें अच्छी तरहसे प्रवेश नहीं कर पा रहा हूँ। परन्तु इसकी अपेक्षा मेरी अपनी प्रणालीमें मुझे अधिकतर भावोदय हो रहा है। परमतत्त्व केवल एक ही है। यहाँ उपास्यका जो रूप या चिह्न देख रहा हूँ, उनको मेरा दण्डवत्प्रणाम है और मैं इस भिन्न रूपधारी अपने प्रभुके निकट यह प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे लिए उपयुक्त स्वरूपमें मेरे प्रेमकी पुष्टि करें।[१६]

---

[१५] अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत स्वगुरुं माममायया॥
शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥ (श्रीमद्भा. ११/२७/९, १२)

[१६] श्रीनाथे जानकीनाथे चाभेदे परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः॥
(हनुमानजीके वचन, श्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका, श्लोक न. २८)

निन्दा तथा असुया परित्याज्य

जो ऐसा व्यवहार न कर अपनेसे भिन्न उपासना–प्रणालीके प्रति द्वेष, हिंसा, असूया या निन्दा करते हैं, वे अत्यन्त अज्ञ हैं। वे अपने चरम प्रयोजनका उतना आदर नहीं करते, जितना आदर वृथा विवादका करते हैं।

असद् धर्म प्रणालीका त्याग अवश्यम्भावी

इसमें केवल एक बात विचारणीय है। भजन–प्रणालीकी निन्दा करना अज्ञता और वृथा तो है; परन्तु किसी उपासना–प्रणालीमें सचमुच ही कोई त्रुटि या दोष हो, तो उसका कदापि आदर नहीं किया जा सकता।[१७] परन्तु सदुपायोंके द्वारा उसको सुधारनेपर जीवोंका मङ्गल होगा। इसीलिए श्रीचैतन्यमहाप्रभुने बौद्ध, जैन और निर्विशेषवादियोंके साथ विचार विनिमयकर उन्हें सन्मार्गपर लाया था। श्रीमन्महाप्रभुजीका चरित्र उनके सभी अनुयायियोंके लिए सर्वत्र ही आदर्शस्वरूप होना उचित है।

अनेक प्रकारके अपधर्म

जिस धर्ममें नास्तिक्यवाद, सन्देहवाद, जड़वाद, अनात्मवाद, स्वभाववाद और निर्विशेषवाद रूपी अनर्थ रहते हैं, भक्तजन उस धर्मको धर्म नहीं, बल्कि विधर्म, छल धर्म, धर्माभास या अधर्म ही समझेंगे और उनके उपासकोंकी अवस्था भी शोचनीय जानेंगे। जहाँ तक हो सके, वहाँ तक सरल साधकोंको इन अनर्थोंसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिए।

---

[१७] विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत॥
धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दगिच्छलः॥
यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/१२–१४)

ईश्वरप्रीति ही नित्यधर्म

विमलप्रेम[१८] ही जीवोंका नित्यधर्म है। पूर्वकथित पाँचों भेदोंके देखे जानेपर भी जिस धर्मका उद्देश्य विमलप्रेम है, वही धर्म यथार्थ धर्म है। बाहरी भेदको लेकर तर्क करना अनुचित है। धर्मका उद्देश्य यदि शुद्ध है, तो उसका सब कुछ सुलक्षणयुक्त है। नास्तिक्यवाद, सन्देहवाद, जड़वाद, अनात्मवाद अर्थात् कर्मवाद, स्वभाववाद और निर्विशेषवाद स्वभावतः ही प्रेम-विरोधी होते हैं। इसे आगे बतलाया जाएगा।

कृष्णप्रेम और उसका धर्म

कृष्णप्रेम[१९] ही विमलप्रेम है। प्रेमका यह विशेष धर्म है कि वह किसी एक तत्त्वको आश्रय और किसी दूसरे तत्त्वको विषयके रूपमें ग्रहण करता है। विषय और आश्रयके बिना प्रेम हो ही नहीं सकता। जीवोंका हृदय ही प्रेमका आश्रय है। एकमात्र कृष्ण ही प्रेमके विषय हैं। पूर्ण विमलप्रेमके उदय होनेपर उपास्य-वस्तुका ब्रह्मत्व, ईश्वरत्व या नारायणत्व श्रीकृष्णस्वरूपमें पर्यवसित हो जाता है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थका पाठ करके जिस रूपमें कम या अधिक प्रेमका अनुशीलन करेंगे, उसीके अनुरूप उसकी प्रतीति भी कम या अधिक होगी।

कृष्णनामके श्रवणमात्रसे जो लोग नामपर विवाद करते हैं, वे यथार्थ तत्त्वको समझनेमें असमर्थ हैं। क्योंकि यह विवाद निरर्थक है। नाम जिस विषयकी ओर लक्ष्य करता है, वही जीवोंका प्राप्य है।

---

[१८] धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वकसेनकथासु यः।
नोत्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ (श्रीमद्भा. १/२/८)

[१९] भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकं।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ (श्रीमद्भा. १/७/४-७)

भागवतमें ही वास्तविक नित्यधर्मका वर्णन

सर्वशास्त्रशिरोमणि श्रीमद्भागवतमें जिस श्रीकृष्णचरितका वर्णन हुआ है, वह विद्वत् प्रवर श्रीव्यासदेवजीका साक्षाद् समाधिलब्ध तत्त्व है। नारदजीके उपदेशसे व्यासदेवने भक्तिरूपी सहज समाधिमें श्रीकृष्णस्वरूपका दर्शन किया और उसीका उन्होंने परमपुरुष श्रीकृष्णके प्रति, जीवोंमें शोक, मोह और भयविहीन उपाधिरहित प्रेमाभक्ति उत्पन्न करनेके लिए तथावत् वर्णन किया।

विद्वत्-प्रतीति और अविद्वत्-प्रतीति

श्रीकृष्णके चरित्रका पाठ या श्रवण करनेसे अधिकार भेदसे जीवोंकी दो प्रकारकी प्रतीतियाँ होती हैं। इन दोनों प्रतीतियोंके नाम हैं—विद्वत्-प्रतीति और अविद्वत्-प्रतीति। श्रीकृष्णके प्रकट समयमें जिस श्रीकृष्णलीलाको जड़नेत्रोंसे देखा जाता है, वह विद्वानों (भक्तों) के लिए विद्वत्-प्रतीति और जड़बुद्धियुक्त व्यक्तियोंके लिए अविद्वत्-प्रतीति है। विद्वत्-प्रतीति और अविद्वत्-प्रतीतिको समझनेके लिए षट्सन्दर्भ, बृहद्भागवतामृत या श्रीकृष्ण-संहिताका भली प्रकारसे पाठकर योग्य व्यक्तिके निकट अनुशीलन करेंगे। यहाँ उसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करना असम्भव है। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि विद्याशक्तिके आश्रयमें जिस प्रतीतिका उदय होता है, वह विद्वत्-प्रतीति है और अविद्यावृत्तिके आश्रयमें जिस प्रतीतिका उदय होता है वह अविद्वत्-प्रतीति है।

विद्वत्-प्रतीति ही आवश्यक है

श्रीकृष्णलीलाओंकी अविद्वत्-प्रतीतिपर ही अधिक विवाद होते हैं। विद्वत्-प्रतीतिमें कोई भी विवाद नहीं है।[२०] जिनको परमार्थ लाभ

[२०] न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः मुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः॥
स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥
(श्रीमद्भा. १/३/३७-३८)

करनेकी इच्छा है, वे विद्वत्-प्रतीतिको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। अतः अविद्वत्-प्रतीतिपर विवाद करना निरर्थक है।[२१]

मैं विद्वत्-प्रतीतिका किञ्चित् दिग्दर्शन करानेका प्रयास कर रहा हूँ। जो लोग जड़ीय चिन्ताको अतिक्रमकर चित्-तत्त्वकी उपलब्धि कर सकते हैं, उन्हीं लोगोंके लिए विद्वत्-प्रतीति सम्भव है। वे चिन्मय नेत्रोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णका रूपदर्शन करते हैं, चिन्मय कानोंसे कृष्णलीलाका श्रवण करते हैं, चिन्मय रसके द्वारा कृष्णका सब प्रकारसे आस्वादन करते हैं। समस्त कृष्णलीला ही अप्राकृत और जड़ातीत है। कृष्णकी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा श्रीकृष्ण जड़नेत्रोंसे देखे जा सकते हैं, परन्तु स्वभावतः नेत्रादि सभी जड़ेन्द्रियाँ उनका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं। प्रकटलीलाके समय जो भगवान्की लीलाएँ जड़ेन्द्रियोंके द्वारा गोचर होती हैं, वे भी विद्वत्-प्रतीतिके बिना वस्तु साक्षात्काररूप फल प्रदान नहीं कर सकतीं। इसलिए साधारणतः अविद्वत्-प्रतीति ही अधिक देखी जाती है।

अविद्वत्-प्रतीतिका फल निर्विशेष तत्त्वकी उपलब्धि

अधिकांश लोग अविद्वत्-प्रतीतिके द्वारा कृष्णतत्त्वको अनित्य समझते हैं और श्रीकृष्णके जन्म, वृद्धि, क्षय आदिकी कल्पना करते हैं। अविद्वत्-प्रतीतिके द्वारा ही निर्विशेष अवस्था—'सत्य' और सविशेष अवस्था 'प्रापञ्चिक' जान पड़ती है। इसलिए कृष्णतत्त्वमें विशेषता रहनेपर भी वह प्रापञ्चिक जान पड़ता है।

युक्तिकी असमर्थता

परमतत्त्व क्या वस्तु है? युक्ति या तर्क द्वारा इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। अपरिमेय पदार्थके सम्बन्धमें मनुष्योंकी सीमायुक्त युक्ति क्या कर सकती है? अतएव जीवोंकी भक्तिवृत्तिके द्वारा ही

---

[२१] विद्याऽविद्ये मम तनू विद्धयुद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादेर्विद्यया च तथेतरः॥ (श्रीमद्भा. ११/११/३-४)

परमतत्त्व ज्ञेय और आस्वादनीय है। विमलप्रेम ही प्रारम्भिक अवस्थामें 'भक्ति' कहलाता है। श्रीकृष्णकी कृपाके बिना विद्वत्-प्रतीतिका उदय नहीं होता, क्योंकि उनकी कृपासे ही विद्याशक्ति जीवोंकी सहायता करती है।

एकमात्र कृष्ण ही प्रेमके विषय है

परमतत्त्वके सम्बन्धमें जगतमें जितने भी भाव हैं, उन सभी भावोंकी अपेक्षा कृष्णस्वरूपका भाव ही विमलप्रेमके लिए अधिक उपयोगी है। कुरानशरीफमें जिस अल्लाहको माना गया है, उनमें विमलप्रेम होना असम्भव है। अति प्रियबन्धु पैगम्बर भी उनके स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर पाए, क्योंकि उपास्यतत्त्व सख्यभावगत होनेपर भी ऐश्वर्यवशतः उपासकसे दूर रहते हैं। ईसाइयोंके 'गॉड' (God) भी अत्यन्त दूरगततत्त्व हैं। ब्रह्मकी तो बात ही क्या, श्रीमन् नारायण भी जीवोंके सहज प्रेमके द्वारा प्राप्य नहीं हैं। कृष्ण ही एकमात्र विमलप्रेमके साक्षात् विषयके रूपमें[२२] अपने चिन्मय व्रजधाममें सर्वदा विराजमान रहते हैं।

कृष्णधामका परिचय

भगवान् श्रीकृष्णका धाम आनन्दमय है। वहाँ ऐश्वर्य परिपूर्ण मात्रामें रहनेपर भी प्रभावहीन है।[२३] वहाँ सब कुछ माधुर्यमय और

---

[२२] अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकमाद्यनावृतमृ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ (भ. र. सि. १/१/११)

[२३] तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः।
भजतानीहयाऽऽत्मानमनीहं हरिमीश्वरम्॥
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥
(श्रीमद्भा. ७/७/४८, ५१-५३)

नित्यानन्दस्वरूप है। फल, फूल, किशलय ही वहाँकी सम्पत्ति है। गोधनसमूह ही प्रजाएँ हैं। गोप-बालक ही सखा हैं और गोपियाँ ही सखियाँ हैं। दूध, दही और मक्खन ही वहाँके खाद्य-द्रव्य हैं। सभी वन और उपवन कृष्णप्रेममय हैं। यमुनाजी कृष्णकी सेवामें अनुरक्त हैं। सारी प्रकृति ही कृष्णकी परिचारिका हैं। जो अन्यत्र परब्रह्मके रूपसे सभी व्यक्तियोंकी पूजा और सम्मानको ग्रहण करते हैं, वे श्रीकृष्ण ही उस धामके एकमात्र प्राणधन हैं। कभी तो वे अपने उपासकोंके समान देखे जाते हैं, और कभी उनसे भी हीन जान पड़ते हैं।

ऐश्वर्यशिथिल माधुर्यमय कृष्ण ही प्रेमके विषय

ऐसा न होनेसे क्या क्षुद्र जीव परमतत्त्वके साथ प्रेम कर सकता है? परमतत्त्व परमलीलामय, स्वेच्छामय और जीवोंके विमलप्रेमके इच्छुक हैं। स्वभावतः जो ईश्वर हैं, क्या वे मनुष्योंकी तरह पूजा पानेके लिए लालायित रहते हैं, या पूजाके द्वारा सन्तुष्ट होकर स्वयं सुख अनुभव करते हैं? नहीं, वे स्वयं सब प्रकारसे पूर्ण हैं। अपने सारे ऐश्वर्यको माधुर्यके द्वारा छिपाकर परम चमत्कार लीलारसके आधार स्वरूप वे श्रीकृष्णचन्द्र अप्राकृत वृन्दावनमें रसके अधिकारी जीवोंके साथ समता और हीनता स्वीकार करते हुए स्वयं आनन्द प्राप्त करते हैं।

जो लोग विमल और पूर्ण प्रेमको ही एकमात्र प्रयोजन मानते हैं, वे श्रीकृष्णको छोड़कर और किसको प्रेमके विषयके रूपमें वरण कर सकते हैं? यद्यपि भाषाके भेदसे श्रीकृष्ण, वृन्दावन, गोप, गोपी, गोधन, यमुना, कदम्ब आदि शब्द किसी देश या प्रदेशमें लक्षित नहीं रहनेपर भी तत्स्थानीय विशुद्ध प्रेमसाधकोंको उन-उन लक्षणोंसे लक्षित नाम, धाम, उपकरण, रूप और लीला आदिको प्रकारान्तर और वाक्यान्तर रूपमें अवश्य ही स्वीकार करना होगा। अतएव कृष्णको छोड़कर विशुद्ध प्रेमका और कोई विषय नहीं है।

रागके उदित नहीं होने तक विधिका अवलम्बन ही श्रेयस्कर

जब तक विशुद्ध राग (प्रेम) का उदय नहीं होता, तब तक साधकको कर्त्तव्यबुद्धिके साथ गौण और मुख्यविधिका अवलम्बन करते हुए नियमित रूपमें कृष्णानुशीलन करते रहना चाहिए। (द्वितीय वृष्टि देखिए।)

विधि और रागमार्गसे श्रीकृष्णभजन

गम्भीर रूपसे विचार करनेपर यह देखा जाता है कि कृष्णप्रेमकी प्राप्तिके केवल दो ही मार्ग हैं—विधि और राग। राग दुर्लभ है। रागके उदय होनेपर विधिकी अपेक्षा नहीं रह जाती। जब तक रागका उदय नहीं होता, तब तक विधिका अवलम्बन करना ही मनुष्योंका प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव शास्त्रोंमें दो मार्गोंका उल्लेख है—विधिमार्ग और रागमार्ग। रागमार्ग बिलकुल स्वतन्त्र है, अतएव उसके लिए कोई विशेष व्यवस्था या विधि नहीं है। अत्यन्त भाग्यवान और उच्चाधिकारी साधक ही इस मार्गका अवलम्बन करनेमें समर्थ हैं। इसलिए यहाँपर विधिमार्गकी व्यवस्थाको ही पद्धतिक्रमसे लिखा गया है।

ईश्वर विश्वास मूलक नीति ही वास्तविक नीति है

दुर्भाग्यवशतः जो लोग परमेश्वरको नहीं मानते, वे भी अपने जीवन निर्वाहके लिए कुछ विधियोंका पालन करते हैं। उन विधियोंको नीति कहा जा सकता है। जिस नीतिमें भगवत्-चिन्तनकी व्यवस्था नहीं है, वह नीति अन्य दृष्टिसे सर्वाङ्गसुन्दर एवं आदर्श होने पर भी मानव-जीवनको सार्थक बनानेमें असमर्थ हैं। वह नीति अत्यन्त बहिर्मुख नीति है। जिस नीतिमें भगवत्-विश्वास और उनके प्रति कर्त्तव्यकी भावना निहित हो, वही नीति मनुष्य जीवनकी विधि कही जा सकती है। विधियाँ दो प्रकार की हैं—मुख्य और गौण।

गौण और मुख्य विधि

भगवत्-प्रीति-विधान ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य होनेपर जो विधि व्यवधानरहित होकर उक्त तात्पर्यको लक्ष्य करती है, उसीको मुख्य विधि कहते हैं और जो विधि कुछ व्यवधानके साथ घूम-फिरकर उस तात्पर्यकी ओर लक्ष्य करती है, वह गौण विधि है। उदाहरणार्थ प्रातः स्नान एक विधि है। उससे शरीर स्निग्ध और निरोग रहता है। फलतः मन स्थिर होता है। मन स्थिर होनेपर भगवान्‌की उपासना की जा सकती है। यहाँपर भगवत्-उपासना, जो कि जीवनका मूल तात्पर्य है, वह व्यवधान युक्त है। क्योंकि स्नान करनेका व्यवधानशून्य फल शरीरकी स्निग्धता है। यदि शरीरकी स्निग्धताको इस विधिका चरम फल माना जाए, तो ईश्वर-उपासनारूपी फल प्राप्त नहीं होता। ईश्वर-उपासनारूप फल और स्नान-विधिके बीचमें अन्यान्य फलोंके विद्यमान रहनेपर ये सभी फल बाधास्वरूप हुए। जहाँपर बाधाएँ रहती हैं, वहाँपर व्याघातकी भी सम्भावना बनी रहती है।

गौण और मुख्य विधिका परिचय

मुख्य विधिका साक्षात् फल—भगवत्-उपासना है।[२४] इसमें विधि और उपासनाके मध्य गौण फल नहीं होता। हरिकीर्त्तन या हरिकथा श्रवणको मुख्य विधि कहा जा सकता है। क्योंकि उसमें विधिका साक्षात् फल ही भगवत्-उपासना है। हरिभक्ति मुख्य विधि होनेपर भी गौण विधिका अवलम्बन नहीं करनेपर जीवनका निर्वाह नहीं होता और जीवन-निर्वाह न होनेसे प्राण नहीं रहते। प्राण नहीं रहनेसे हरिभजनरूपी मुख्य विधिका अनुशीलन सम्भव नहीं है। गौण विधिका सहज लक्षण यह है कि वह मनुष्य-जीवनके अलङ्कारस्वरूप जड़ विद्या, शिल्प, कारीगरी, सभ्यता, परिपाटी, अध्यवसाय और शरीरिक,

---

[२४] नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥
(श्रीमद्भा. ३/२३/५६)

मानसिक तथा सामाजिक नीतियाँ सबको आत्मसात्कर मनुष्य-जीवनको सरल-सहज रूपसे भगवत्-चरणोंकी सेवामें नियुक्त करे और वस्तुतः मुख्य विधिकी अनुचरी होकर अपनी अधीश्वरीकी कृपासे उसीके चरणामृतके द्वारा मनुष्य जीवनको साधन और सिद्धिकालमें परमानन्दमय बना सके।

मनुष्य-जीवनकी विभिन्न अवस्थाएँ

वन्यजीवन, सभ्यजीवन, जड़विज्ञानसम्पन्न-जीवन, निरीश्वर-नैतिक-जीवन, सेश्वर-नैतिक-जीवन, वैधभक्त-जीवन और प्रेमभक्त-जीवन, ऐसे नाना प्रकारके नर-जीवन दृष्टिगोचर होनेपर भी सेश्वर-नैतिक-जीवनसे ही वास्तविक मनुष्य-जीवन प्रारम्भ होता है।

भक्तिहीन जीवन ही पशु धर्म है

सेश्वर न होनेपर मनुष्य-जीवन जितना भी सभ्य, भौतिक विज्ञानसम्पन्न और नैतिक ही क्यों न हो, वह कभी भी पशु-जीवनकी अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं हो सकता। वास्तविक मनुष्य-जीवन सेश्वर-नैतिक-जीवनके विधि-निषेधोंको लेकर चलता है। अतएव इस ग्रन्थमें सेश्वर-नैतिक-जीवनसे ही विचार प्रारम्भ किया गया है। सभ्यता, जड़विज्ञान-सम्पत्ति और नीति सेश्वर-नैतिक-जीवनके प्रधान अलङ्कार हैं। इन सब अलङ्कारोंके साथ सेश्वर-नैतिक-जीवन जिस प्रकारसे भक्त-जीवनमें पर्यवसित होकर सार्थक बनता है, उसीका इस सारे ग्रन्थमें विचार किया गया है। जीवोंका जीवन ही जैव-धर्म है। मनुष्य अवस्थामें जैव-धर्मको मानव-धर्म कहते हैं। वह धर्म दो प्रकारका होता है—गौण और मुख्य अर्थात् साम्बन्धिक और स्वरूपगत। गौण या साम्बन्धिक धर्म जड़ है और वह जड़ीय गुणों एवं सम्बन्धोंको आश्रयकर विद्यमान होता है। मुख्य धर्म ही यथार्थ जैव-धर्म है। गौण धर्म केवल जड़-गुणवशतः मुख्य धर्मकी गुणीभूत अवस्थामात्र है। जड़-गुणोंके दूर होनेपर जैव-धर्म केवलीभूत विशुद्ध होकर मुख्य धर्म हो जाता है। गौण धर्मको सोपाधिक धर्म भी कहा जा सकता है।

उपाधिरहित होनेपर वही मुख्य धर्म हो जाता है। गौण विधि और गौण निषेध अर्थात् पुण्य और पाप—दोनों ही गौण धर्मके अन्तर्गत हैं। गौण धर्म जीवको परित्याग नहीं करता, बल्कि जीवकी गुणमुक्त (मायारहित) अवस्थामें मुख्य धर्मके रूपमें पर्यवसित हो जाता है। जड़बद्धावस्थामें मुख्य धर्मकी अनुचित परिणतिसे गौण धर्मका उदय हुआ है। गौण धर्मकी यथार्थ परिणतिके द्वारा मुख्य धर्मका पुनः उदय होता है।

अतएव गौण विधि-निषेध विचारपूर्वक मुख्य विधि-निषेध और अन्तमें जैव-धर्मकी सिद्धावस्था—प्रेमभक्तिका विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

ईश्वर, भगवान् और कृष्णनाम

इस वृष्टिमें पहले 'ईश्वर' तत्पश्चात् 'भगवान्' और अन्तमें 'कृष्ण' शब्दका व्यवहार किया गया है। पाठकवर्ग यह न समझें कि ईश्वर, भगवान् और कृष्ण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं।[२५] कृष्ण ही एकमात्र स्वरूपतत्त्व और जीवोंके विमलप्रेमके विषय हैं। कृष्ण ही भगवत्-तत्त्वके पूर्ण माधुर्यप्रकाश हैं। जिस समय अन्यान्य तत्त्व या पदार्थोंके साथ साम्बन्धिक रूपसे श्रीकृष्णका विचार किया जाता है, उस समय उनको ईश्वरके रूपमें देखा जाता है और उनके लिए 'ईश्वर' नामका व्यवहार किया जा सकता है। इसलिए इस वृष्टिमें तीन पदार्थोंकी आलोचनामें 'कृष्ण' नामके स्थानपर 'ईश्वर' शब्दका व्यवहार हुआ है। ईश्वर भाव और कुछ नहीं है, वह केवल स्वरूप-तत्त्व—श्रीकृष्णके द्वारा रचित पदार्थपर उनकी जो स्वभावसिद्ध ईशिता है, उसीका परिचयमात्र है। तत्त्व-संख्याके स्थानपर 'ईश्वर' नामका ही सर्वत्र प्रयोग होता है। जैसे—चित्, अचित् और ईश्वर।

---

[२५] वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा. १/२/११)

द्वितीय धारा
श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षा प्रणाली

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका उपादान

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा प्रणालीको जाननेके लिए हमें श्रीचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थका अनुशीलन करना आवश्यक है। श्रीमन्महाप्रभुजीका श्रीशिक्षाष्टकके आठ श्लोकोंके अतिरिक्त स्वरचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। श्रीरूप गोस्वामी द्वारा रचित पद्यावली ग्रन्थमें भी उनके दो-एक श्लोक ही पाए जाते हैं। इन श्लोकोंके अतिरिक्त कुछ महानुभावोंने एक-दो छोटे-छोटे ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं, जिनको वे श्रीमन्महाप्रभु द्वारा रचित बतलाते हैं, परन्तु प्रचुर छान-बीन और गम्भीर विचारके पश्चात् हमने यह स्थिर किया है कि वे ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हैं। श्रीमन्महाप्रभुजीके अनुगत गोस्वामियोंने अनेकानेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें श्रीमन्महाप्रभुजीकी शिक्षा प्रचुर मात्रामें पायी जाती है। परन्तु इन ग्रन्थोंमें ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता कि श्रीमन्महाप्रभुजीने स्वयं कोई ग्रन्थ लिखा है। श्रीचैतन्यचरितामृत एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके लेखक हैं—श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी। इस ग्रन्थमें श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके चरित तथा उनके उपदेशोंका बड़ा ही रोचक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन है। यही नहीं, इस ग्रन्थमें महाप्रभुजीके जिन उपदेशों एवं सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, वे अन्यान्य गोस्वामियोंके ग्रन्थोंको देखनेपर प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं। यही कारण है कि श्रीचैतन्यचरितामृतका सर्वत्र ही इतना आदर है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीमन्महाप्रभुजीके कुछ ही वर्ष पश्चात् आविर्भूत होकर उक्त ग्रन्थकी रचना की थी। श्रीमन्महाप्रभुजीके साक्षात् शिष्यवृन्द श्रीरूप गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आदि

अनेक गोस्वामियोंने श्रीकविराज गोस्वामीको इस ग्रन्थकी रचनामें सहायता प्रदान की थी। उससे पूर्व श्रीकविकर्णपूरने श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक और श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने श्रीचैतन्यभागवतकी रचना करके कविराज गोस्वामीकी अनेक विषयोंमें सहायता की है। सभी दृष्टियोंसे विचार करके हम श्रीचैतन्यचरितामृतका अनुसरण करनेके लिए बाध्य हुए हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुजी चौबीस वर्षकी आयु तक गृहस्थ धर्ममें थे। उस समय वे श्रीवास-अङ्गन, गङ्गाजीके तट, पाठशाला एवं घर-घर जाकर लोगोंको हरिनामका माहात्म्य बतलाया करते थे एवं हरिनाम-संकीर्त्तन जीवोंके लिए क्यों आवश्यक है—इसका प्रचार किया करते थे। तदनन्तर संन्यास ग्रहणकर श्रीजगन्नाथपुरीमें श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य आदिको, विद्यानगरमें श्रीराय रामानन्दको, दक्षिणमें वेंकट भट्ट और श्रीगोपाल भट्ट आदिको, प्रयागमें श्रीरूप गोस्वामीको तथा श्रीरघुपति उपाध्याय और श्रीवल्लभाचार्यको, वाराणसीमें श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदिको जो उपदेश प्रदान किया था उन्हींमें श्रीमन्महाप्रभुकी सम्पूर्ण शिक्षाएँ यथा रूपमें पाई जाती हैं। इन्हीं शिक्षाओंके आधारपर हमने उनकी शिक्षा-प्रणालीका संग्रह किया है।

श्रीनाम-प्रचार

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने सम्पूर्ण भारतमें विशुद्ध वैष्णव-धर्म या जीवके स्वरूप-धर्मका प्रचार किया था। कहीं स्वयं जाकर और कहीं अपने प्रचारकोंको भेजकर उन्होंने यह कार्य पूरा किया था। उन्होंने प्रचारकोंमें असीम शक्तिका सञ्चार करके उनको उत्तर और दक्षिण भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रचार करनेके लिए भेजा था। ये प्रचारक किसी प्रकारके वेतन या पुरस्कारकी आशासे नहीं, वरन् श्रीमन्महाप्रभुके प्रेमसूत्रमें बँधकर स्वेच्छासे प्रचार करते थे। उनका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल एवं सदाचारपूर्ण था। यदि प्रचारकोंका चरित्र विशुद्ध और सदाचारपूर्ण न हो, तो विशुद्ध धर्मका प्रचार सम्भव नहीं है। इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि आजकल वेतनभोगी लोग प्रचार करते हैं,

परन्तु उनके प्रचारका फल जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं होता। श्रीचैतन्यचरितामृतमें ऐसा लिखा है—

एई पञ्चतत्त्वरूपे श्रीकृष्णचैतन्य।
कृष्ण-नाम-प्रेम दिया विश्व कैला धन्य॥
मथुराते पाठाइल रूप-सनातन।
दुइ सेनापति कैल भक्ति-प्रचारण॥
नित्यानन्द-गोसाञे पाठाइला गौड़देशे।
तेहों भक्ति प्रचारिला अशेष-विशेषे॥
आपने दक्षिण देश करिला गमन।
ग्रामे ग्रामे कैला कृष्णनाम-प्रचारण॥
सेतुबन्ध पर्यन्त कैला भक्तिर प्रचार।
कृष्णप्रेम दिया कैला सबार निस्तार॥

(चै. च. आ. ७/१६३-१६७)

अर्थात् स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजीने—भक्तरूप (स्वयं), भक्तस्वरूप (श्रीनित्यानन्द प्रभु), भक्तावतार (श्रीअद्वैताचार्य प्रभु), भक्त (श्रीवास आदि भक्तवृन्द) और भक्तशक्ति (गदाधर प्रभु)—इस पञ्चतत्त्वके रूपमें कृष्णनाम और कृष्णप्रेमका दानकर विश्वको धन्य कर दिया। उन्होंने कृष्णनाम आौर कृष्णप्रेमका प्रचार करनेके लिए अपने दो प्रधान-सेनापतियों—श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामीको मथुरामें और श्रीनित्यानन्द प्रभुको गौड़देश (बंगाल) में भेजा। इन लोगोंने अपने-अपने क्षेत्रोंमें शुद्धभक्तिका प्रचार किया। महाप्रभुजीने स्वयं दक्षिण भारतका भ्रमणकर वहाँ गाँव-गाँवमें कृष्णनामका प्रचार किया। इस प्रकार उन्होंने भारतके पश्चिमोत्तर और पूर्वी प्रदेशोंसे आरम्भकर दक्षिणमें रामेश्वर तक कृष्णनामका प्रचार किया और कृष्णप्रेम-दानकर सबका उद्धार किया।

गौर-शिक्षासार

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका मूलाधार यह है कि कृष्णप्रेम ही जीवका नित्य धर्म है। उस नित्य धर्मसे जीवका कदापि विच्छेद नहीं

हो सकता। परन्तु कृष्ण-विस्मृतिके कारण जीव माया द्वारा मोहित होकर कृष्णेतर विषयोंमें अनुरक्त हो गया है। इसीलिए उसका नित्य-धर्म—कृष्णप्रेम उसके (जीवात्माके) अन्तःकोषमें छिप गया है। इसीलिए जीव संसारमें नाना प्रकारके दुःखोंसे जर्जरित होते हैं। यदि जीव किसी सौभाग्यक्रमसे यह जान जाए कि "मैं कृष्णका नित्य दास हूँ", तो उसका वह धर्म पुनः उदित हो सकता है।

इस सत्यके प्रति विश्वास ही सम्पूर्ण मङ्गलकी जड़ है। यह विश्वास दो प्रकारसे उदित होता है अर्थात् किसी-किसी मनुष्यका संसार क्षयोन्मुख होनेपर, अनेक जन्मोंकी सुकृतिके फलस्वरूप स्वभावसिद्ध विश्वासका उदय होता है।

कोन भाग्ये कोन जीवेर 'श्रद्धा' यदि हय।
तबे सेइ जीव 'साधुसङ्ग' करय॥
(चै. च. म. २३/९)

अर्थात् किसी सौभाग्यसे यदि किसी जीवके हृदयमें श्रद्धा उदित होती है, तभी वह साधुसङ्ग करता है।

भजनका क्रम

श्रद्धाका दूसरा नाम विश्वास है।

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥
(चै. च. म. २२/६२)

अर्थात् 'कृष्णकी भक्ति करनेसे जीवनमें सब कुछ करना हो जाता है'—ऐसे दृढ़ निश्चयात्मक विश्वासको श्रद्धा कहते हैं।[१] सुकृतिजन्य आत्म-प्रसन्नताके माध्यमसे आत्माके नित्य-धर्मसे स्वतःसिद्ध श्रद्धाका उदय होता है, ऐसी श्रद्धा जिसके हृदयमें उदित होती है,[२] वह

[१] यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥ (श्रीमद्भा. ४/३१/१४)

[२] यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णौ नातिसक्तौ भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥ (श्रीमद्भा. ११/२०/८)

उपयुक्त साधुसङ्गमें भजन-प्रणालीका अवलम्बनकर अपने अनर्थोंको दूर करता है तथा अपनी पूर्व उदित स्वतःसिद्ध श्रद्धाको निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव तक की अवस्थामें पहुँचा देता है।

यदि सौभाग्यवश जीव-हृदयमें स्वतःसिद्ध श्रद्धा प्रबल रूपमें उदित होती है, तो वह स्वयं रागमार्गमें विचरण करने लगता है।[३] ऐसी दशामें वह शास्त्रयुक्ति और शास्त्र-विधि आदिकी अपेक्षा न करके कृष्णरतिरूप भावमार्गपर निर्भय होकर आत्मोन्नति करनेमें समर्थ होता है। परन्तु वह उदित-श्रद्धा यदि प्रारम्भिक अवस्थामें हो, तब सद्गुरुका आश्रय ग्रहणकर उनके आदेश और निर्देशके अनुसार भजन करते-करते वही दृढ़ श्रद्धाके रूपमें परिणत होकर भावावस्थाको प्राप्त करती है। शास्त्र और गुरुके वचनोंके प्रति विश्वास होना ही जब श्रद्धाका लक्षण है, तब साधारण रूपसे शास्त्र-विचार नितान्त आवश्यक है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ. ७/७१-८४) में श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

प्रभु कहे,—"शुन, श्रीपाद, इहार कारण।
गुरु मोरे मूर्ख देखि' करिल शासन॥
'मूर्ख तुमि, तोमार नाहि वेदान्ताधिकार।
'कृष्णनाम' जप' सदा,—एइ मन्त्रसार॥
कृष्णमन्त्र हइते हबे संसार-मोचन।
कृष्णनाम हैते पाबे कृष्णेर चरण॥
नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म।
सर्वमन्त्रसार नाम,—एइ शास्त्रमर्म॥
एत बलि' एक श्लोक शिखाइल मोरे।
कण्ठे करि' एइ श्लोक करिह विचारे॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

---

[३] तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावत।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/९)

एइ आज्ञा पाइया नाम लइ अनुक्षण।
नाम लैते लैते मोर भ्रान्त हैल मन॥
धैर्य धरिते नारि, हइलाम उन्मत्त।
हासि, कान्दि, नाचि, गाइ, जैछे मदमत्त॥
तबे धैर्य धरि' मने करिलाम विचार।
कृष्णनामे ज्ञानाच्छन्न हइल आमार॥
पागल हइलाम आमि, धैर्य नाहि मने।
एत चिन्ति' निवेदिलाम गुरुर चरणे॥
'किबा मन्त्र दिला गोसाञि, किबा तार बल।
जपिते जपिते मन्त्र करिल पागल॥
हासाय, नाचाय, मोरे कराय क्रन्दन।'
एत शुनि' गुरु मोरे बलिला वचन॥
'कृष्णनाम-महामन्त्रेर एइ त' स्वभाव।
जेइ जपे, तार कृष्णे उपजये भाव॥
कृष्णविषयक प्रेमा—परम पुरुषार्थ।
जार आगे तृणतुल्य चारि पुरुषार्थ॥

उस समयकी बात है जब महाप्रभुजी वाराणसी पधारे थे। वाराणसीमें अद्वैतवादके प्रकाण्ड आचार्य श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीका बड़ा बोल-बाला था। संयोगवश एक विराट सभामें महाप्रभुजीकी भेंट प्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ हुई। प्रकाशानन्दजीने महाप्रभुसे कहा—आप संन्यासी हैं; आपको तो वेदान्तका अध्ययन करना चाहिए तथा नृत्य-गीतसे सर्वथा दूर रहकर ब्रह्मका चिन्तन करना चाहिए, परन्तु आप इसके ठीक विपरीत वेदान्तका अध्ययन क्यों नहीं करते हैं? सदैव भावुकता पूर्ण नृत्य-गीतमें प्रमत्त रहना संन्यासियोंके लिए उचित नहीं है। महाप्रभुजीने बड़ी ही नम्रताके साथ उत्तर दिया—श्रीमानजी! आपके प्रश्नके उत्तरमें मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जब मैं अपनी गुरुजीके समीप उपस्थित हुआ, तो उन्होंने मुझे यह उपदेश दिया था कि "तुम मूर्ख हो; तुम्हारा वेदान्त जैसे कठिन शास्त्रमें अधिकार नहीं है। इसलिए तुम सब प्रकारके मन्त्रोंके सारस्वरूप कृष्णनाम महामन्त्रका जप एवं कीर्त्तन किया करो। कृष्णमन्त्रसे

आवागमनरूप संसार (या जड़ीय आसक्तिरूप संसार) दूर हो जाता है; परन्तु कृष्णनामसे तो श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्ति भी होती है। अतएव कलियुगमें कृष्णनाम ही जीवोंका एकमात्र धर्म है। कलियुगमें अन्यान्य धर्म फलप्रद नहीं हैं। हाँ, हरिनाम-कीर्त्तनके साथ उन धर्मोंका आचरण होनेपर वे कुछ-कुछ फलप्रद हो सकते हैं, अन्यथा स्वतन्त्ररूपसे उनका अनुष्ठान होनेपर निष्फल ही देखे जाते हैं।" ऐसा कहकर गुरुदेवने मुझे निम्न श्लोक सिखाकर निरन्तर हरिनाम करनेकी आज्ञा दी—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(चै. च. आ. ७/७६)

अब मैं गुरुदेवकी आज्ञा पाकर निरन्तर हरिनाम जपने लगा। धीरे-धीरे मेरी ऐसी दशा हो गई कि नाम करते-करते मैं शरीरकी सुध-बुध भूल जाता, मन पागलकी भाँति हो उठता, चेष्टा करनेपर भी अपनेको सम्भाल नहीं पाता। यहाँ तक कि पागलोंकी भाँति मैं कभी ठहाका मारकर हँसने लगता, कभी जोरसे रोने लगता और कभी उन्मत्त होकर नाचने लगता। ऐसा देखकर किसी प्रकार धैर्य धारण करके मैंने विचार किया कि मैं तो बुरी तरहसे फस गया। कहाँ तो कृष्णनामसे ज्ञानका उदय होना चाहिए, इससे तो मेरा रहा-सहा ज्ञान भी ढक गया। बुद्धि कुछ काम नहीं करती; धैर्य भी जाता रहा और मैं पागलोंकी भाँति हँसने, रोने और नाचने लगता हूँ। आखिर बात क्या है? इस विषयमें मन्त्रदाता गुरुजीसे पूछना चाहिए। ऐसा सोचकर मैंने गुरुजीके चरणोंमें निवेदन किया—गुरुजी! आपने मुझे कैसा मन्त्र दिया है? इसका तो न जाने कैसा प्रभाव है कि ज्यों ही मैं कृष्णनाम करता हूँ, त्यों ही यह मुझे बलपूर्वक कभी नचाता है, कभी हँसाता है और कभी रुलाता है।

मेरी बात सुनकर गुरुजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स! यह तो बड़े आनन्दकी बात है। कृष्णनाम महामन्त्रका तो यही स्वाभाविक फल है कि जो इसका जप करता है, उसका कृष्णके श्रीचरणकमलोंमें

प्रेम हो जाता है। यह कृष्णप्रेम ही जीवमात्रके लिए परम पुरुषार्थ है। साधारणतः चार प्रकारके पुरुषार्थ होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन सबसे अत्यन्त श्रेष्ठ है—पञ्चम पुरुषार्थ—कृष्णप्रेम। कृष्णप्रेमके सामने पूर्वोक्त चार पुरुषार्थ अतिशय तुच्छ और हेय है।"

शास्त्रोंमें विश्वास होना ही श्रद्धा है

श्रीमन्महाप्रभुजीके उपर्युक्त वचनोंमेंसे "कण्ठे करि एइ श्लोक करह विचार।"—इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्र विचारसे श्रद्धा पुष्ट होकर उन्नतावस्थाको प्राप्त करती है। श्रीमन्महाप्रभुजीके मतानुसार शास्त्र अर्थात् वेदशास्त्र ही—एकमात्र प्रमाण हैं। केवल तर्कशास्त्र आदि कोई प्रमाण नहीं हैं। इस विषयमें श्रीचैतन्यचरितामृत (आ. ७।१३२) में लिखा है—

स्वतःप्रमाण वेद—प्रमाण-शिरोमणि॥

पुनः (चै. च. म. २०/१२२) सनातन गोस्वामीकी शिक्षाके प्रसङ्गमें लिखा है—

मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति-ज्ञान।
जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण॥

कोमल और दृढ़ श्रद्धा

इससे स्पष्ट होता है कि श्रद्धा दो प्रकारकी होती है—कोमल श्रद्धा और दृढ़ श्रद्धा। दृढ़ श्रद्धासे जिस भक्तिका उदय होता है, वह अत्यन्त बलवती और स्वभावतः भावरूपा होती है। उसके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीका उपदेश पूर्णरूपसे श्रीशिक्षाष्टकमें पाया जाता है।

कोमल श्रद्धाकी उन्नतिका क्रम

कोमल श्रद्धाके सम्बन्धमें महाप्रभुजीने श्रीसनातन गोस्वामीको इस प्रकार उपदेश किया है—

कोन भाग्ये कोन जीवेर 'श्रद्धा' यदि हय।
तबे सेइ जीव 'साधुसङ्ग' करय॥
साधुसङ्ग हैते हय 'श्रवण-कीर्त्तन'।
साधनभक्त्ये हय 'सर्वानर्थनिवर्त्तन'॥
अनर्थनिवृत्ति हइले भक्ति 'निष्ठा' हय।
निष्ठा हैते श्रवणाद्ये 'रुचि' उपजय॥
रुचि हैते भक्ति हय 'आसक्ति' प्रचुर।
आसक्ति हैते चित्ते जन्मे कृष्णे प्रीत्याङ्कुर॥
सेइ 'रति' गाढ़ हैले धरे 'प्रेम'-नाम।
सेइ प्रेमा—'प्रयोजन' सर्वानन्द-धाम॥

(चै. च. म. २३/९-१३)

जब किसी सौभाग्यसे किसी जीवको श्रद्धा होती है, तब वह साधुसङ्ग करता है। साधुसङ्गमें वह श्रवण-कीर्त्तन आदि नवधा-भक्तिरूपी साधनभक्तिका आचरण करने लगता है। साधनभक्तिके प्रभावसे धीरे-धीरे उसके समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं। अनर्थोंके दूर होनेपर उसकी श्रद्धा निष्ठाके रूपमें बदल जाती है। पुनः श्रवण आदि साधनोंके प्रभावसे उसकी निष्ठा रुचिका आकार धारण करती है। फिर रुचिसे आसक्ति होती है और आसक्तिसे ही अन्तःकरणमें कृष्णके प्रति प्रीतिका अंकुर उदित होता है। पुनः वह प्रीति (रति) प्रगाढ़ अवस्थामें 'प्रेम' का आकार धारण करती है। यही प्रेम सम्पूर्ण जीवोंके लिए चरम प्रयोजन है तथा सम्पूर्ण आनन्दका धाम है।

कोमल श्रद्धावाले व्यक्तिका कर्त्तव्य

दृढ़ श्रद्धामें शास्त्र युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। परन्तु कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिए शास्त्र और साधुसङ्गके बिना गति नहीं है। ऐसे कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिए दीक्षा ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक होता है। श्रीगुरुदेवके निकट शास्त्रसिद्धान्त श्रवण करना तथा मन्त्र दीक्षा-ग्रहण करना पड़ता है। तत्पश्चात् श्रीगुरुदेवके

उपदेशानुसार नवधाभक्ति आदिका साधन करना होता है। ऐसा होनेपर ही उसकी क्रमोन्नति होती है। ऐसे साधकोंके लिए ही दशमूलकी शिक्षा है। 'दशमूल' में दस मूल हैं अर्थात् प्रमाण पहला मूल है तथा प्रमेय अर्थात् जो विषय प्रमाणित होंगे—वे नौ प्रकारके हैं।

दृढ़ श्रद्धा

दृढ़ श्रद्धावाले भक्तोंके अन्तःकरणमें स्वतःसिद्ध विश्वास होनेके कारण केवल हरिनामका ही साधन करनेसे सब प्रकारके प्रमेय नामकी कृपासे अपने आप उदित होते हैं। दृढ़ श्रद्धावाले साधकोंको प्रमाणोंकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

कोमलश्रद्ध व्यक्तिके लिए वेदादि शास्त्र ही मूल प्रमाण है

कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिए प्रमाणका अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक होता है। प्रमाणके अभावमें वे शीघ्र ही कुसङ्गके शिकार हो जाते हैं। और अन्तमें उनका पतन हो जाता है। ब्रह्म-विस्तार स्वरूप वेद ही उनके लिए प्रमाण हैं। वेद विशाल हैं, उनमें कर्मी, ज्ञानी आदि विभिन्न अधिकारियोंके लिए अनेक प्रकारकी व्यवस्थाएँ हैं। इसलिए उनमेंसे शुद्ध भक्तिसम्बन्धी उपदेशोंको संग्रहकर लेना सहज नहीं है। वेदोंका मूल तात्पर्य क्या है, इसे स्पष्ट रूपसे दिखलानेके लिए सात्त्विक पुराणोंका आविर्भाव है। इन सात्त्विक पुराणोंमें श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ है।[४] इस सात्त्विक महापुराणमें वेदके सात्त्विक तात्पर्यकी विशद व्याख्या है। इसलिए श्रीमद्भागवत-शास्त्र तथा उसके अनुगत पञ्चरात्र आदि भी प्रमाणके अन्तर्गत हैं।

---

[४] अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिवृंहितः॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः॥
(गरुड़पुराण)
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्॥
(श्रीमद्भा. १/३/४१)
सर्व वेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥ (श्रीमद्भा. १२/१३/१५)

श्रीमन्महाप्रभुजीने सनातन-शिक्षामें कहा है कि वेदशास्त्रमें मुख्य रूपसे 'सम्बन्ध', 'अभिधेय' और 'प्रयोजन' का वर्णन है। श्रीकृष्ण—सम्बन्ध हैं, भक्ति—अभिधेय अर्थात् कृष्णकी प्राप्तिका साधन है, तथा कृष्णप्रेम ही एकमात्र प्रयोजन है। यह प्रेम ही पुरुषार्थशिरोमणि—महाधन है—

वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध', 'अभिधेय', 'प्रयोजन'।
'कृष्ण'—प्राप्य-सम्बन्ध, 'भक्ति'—प्राप्येर साधन॥
अभिधेय-नाम—'भक्ति', 'प्रेम'—प्रयोजन।
पुरुषार्थशिरोमणि—प्रेम महाधन॥
(चै. च. म. २०/१२४-१२५)

कृष्ण ही सम्बन्ध है

सम्बन्ध—चित् (जीव), अचित (जड़) और ईश्वर—इन तीन वस्तुओंमें परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे 'सम्बन्ध' कहते हैं। वास्तवमें कृष्ण ही एकमात्र वस्तु हैं। उस वस्तुकी शक्तियाँ हैं—अचित् और जीव। अचित्शक्तिका परिणाम अचित्जगत है तथा जीवशक्तिका परिणाम जैवजगत है। सम्बन्धके विचारसे जीवके लिए कृष्णदास्यकी पुनः प्राप्तिका नाम ही सम्बन्ध स्थापन है। सार्वभौम-शिक्षामें लिखा है—

स्वरूप-ऐश्वर्ये ताँर नाहि मायागन्ध।
सकल वेदेर हय भगवान् से 'सम्बन्ध'॥
(चै. च. आ. ७/१३९)

पुनः सनातन-शिक्षा (चै. च. म. २०/१२४) में लिखा है—

'कृष्ण'—प्राप्य सम्बन्ध, 'भक्ति'—प्राप्येर साधन।

सम्बन्धतत्त्वके अन्तर्गत सात प्रमेयोंका विचार दिखलाया गया है। वे प्रमेय हैं—(१) कृष्णतत्त्वका विचार, (२) कृष्णशक्तिका विचार, (३) रसतत्त्वका विचार, (४) जीवतत्त्वका विचार, (५) जीवके संसारका विचार, (६) जीवका उद्धार विचार, और (७) अचिन्त्यभेदाभेद विचार। इन सात प्रमेयोंका पृथक्-पृथक् रूपसे विचार करनेपर सम्बन्धज्ञान प्राप्त होता है।

कृष्णभक्ति ही अभिधेय है

अभिधेय—जिस शक्ति द्वारा सहज शब्दार्थका बोध होता है, उसे शब्दकी अभिधाशक्ति कहते हैं। जैसे—दस घोड़े। इससे दस घोड़ोंका बोध होता है। इस सहज अर्थको अभिधेय कहा जाता है। एक दूसरे प्रकारकी भी शब्दशक्ति होती है, जिसे लक्षणाशक्ति कहते हैं। उदाहरणके लिए—"गङ्गाके ऊपर वाराणसी नगर है।" जलके ऊपर नगर नहीं होता, इसलिए लक्षणाशक्ति द्वारा इस वाक्यका यह अर्थ होगा कि गङ्गाके किनारे वाराणसी नगर है। जहाँ लक्षणाकी आवश्यकता होती है, वहाँ अभिधाशक्तिसे काम नहीं चलता। अभिधा द्वारा शब्दोंके स्वाभाविक एवं सहज अर्थका ही बोध होता है।

वेदशास्त्रमें अभिधा द्वारा जो अर्थ पाया जाता है, वही ग्रहण करने योग्य है। वेदशास्त्रका यथार्थ अर्थ ही वेदशास्त्रका अभिधेय है। उसे जानना ही हमारा कर्त्तव्य है। सम्पूर्ण वेदोंका विचार करनेपर देखा जाता है कि भगवद्भक्ति ही वेदशास्त्रका अभिधेय है। कर्म, योग, तप और ज्ञान आदिका भक्तिके साथ गौण सम्बन्ध है। उनमें परस्पर मुख्य सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए शास्त्रोंमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिए जिस मुख्य उपायका वर्णन किया गया है, वह मुख्य उपाय ही साधनभक्ति है। यह एक प्रमेय है।

कृष्णप्रेम ही प्रयोजन है

प्रयोजन—जिस उद्देश्यसे उपायका अवलम्बन किया जाता है, उसको प्रयोजन कहा गया है। जीवोंके लिए कृष्णप्रेम ही प्रयोजन है। यह प्रेम सिद्धिरूप प्रयोजन भी एक प्रमेय है। इस प्रकार कुल मिलाकर नौ प्रमेय हुए। इसी प्रणालीके अनुसार श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने जैव-धर्म (जीव-धर्म) की शिक्षा दी है।

अतएव सनातन-शिक्षा (म. २२/३-४) में बतलाया गया है—

एइत कहिलुँ सम्बन्ध-तत्त्वेर विचार।
वेदशास्त्रे उपदेशे, कृष्ण—एक सार॥
एबे कहि, शुन, अभिधेय-लक्षण।
जाहा हइते पाइ—कृष्ण, कृष्णप्रेम-धन॥

तृतीय धारा
कृष्ण, कृष्णशक्ति और रस

कृष्णका स्वरूप

सच्चिदानन्द-विग्रहस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं। वे अनादि हैं अर्थात् उनका आदि या कारण और कोई दूसरा नहीं हैं। अपितु वे सबके आदि हैं—सब कारणोंके भी मूल कारण हैं। शास्त्रोंमें उनका नाम गोविन्द कहा गया है। श्रीचैतन्यचरितामृतकी सनातन-शिक्षामें श्रीकृष्णतत्त्वके सम्बन्धमें ऐसा वर्णन मिलता है—

कृष्णेर स्वरूप-विचार शुन, सनातन।
अद्वयज्ञान-तत्त्व, ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्व-आदि, सर्व-अंशी किशोर-शेखर।
चिदानन्द-देह, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर॥
स्वयं भगवान कृष्ण, 'गोविन्द'—पर-नाम।
सर्वैश्वर्यपूर्ण जाँर गोलोक—नित्यधाम॥[१]
(चै. च. म. २०/१५२-१५३, १५५)

अर्थात् ब्रजमें विलास करनेवाले ब्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही अद्वयज्ञान-परतत्त्व हैं। वे सबके आदि और सबके अंशी किशोरशेखर हैं। उनका स्वरूप सच्चिदानन्द है। वे सबके आश्रय

---

[१] गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवी-महेश-हरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/४३)

सर्वेश्वरेश्वर तथा स्वयं भगवान् हैं। शास्त्रमें उनका नाम गोविन्द बतलाया गया है। सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे पूर्ण गोलोक ही उनका नित्यधाम है।

तीन प्रकारके दर्शन

जैवजगतमें ही ईश्वरस्वरूपकी अनुभूति होती है। परमेश्वरने मानवको जो अनुभववृत्ति प्रदान की है, उसके द्वारा ही जीव ईश्वरके स्वरूपका अनुभव कर सकते हैं। मानवकी अनुभववृत्ति तीन प्रकारकी है—स्थूलदेहगत ज्ञानेन्द्रिय, सूक्ष्मदेह या मनकी बोधशक्ति और जीवात्माके स्वरूपगत चिद्दर्शनवृत्ति। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा जो बाहरी अनुभूति होती है, वह केवल जड़ज्ञान है। मनोगत जड़ज्ञानसे प्रतिफलित चिन्ता, स्मरण, ध्यान, धारणा आदि द्वारा केवल जड़ज्ञान और चिदाभासका ही दर्शन होता है। इसलिए ये दोनों प्रकारकी ज्ञानवृत्तियाँ प्राकृत हैं। परन्तु ईश्वरस्वरूप सम्पूर्ण चिदानन्द तत्त्व है। अतएव पूर्वोक्त दोनों प्राकृत वृत्तियोंके द्वारा ईश्वर स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। इसलिए आत्मवृत्तिके[२] आश्रय बिना ईश्वरस्वरूपका दर्शन नहीं होता। जो लोग जड़-इन्द्रियोंकी सहायतासे ईश्वरस्वरूपका दर्शन करनेकी चेष्टा करते हैं, वे आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि योगाभ्यास द्वारा (व्यतिरेक चिन्ता द्वारा) ईश्वरको सृष्ट जगतकी आत्मा समझकर परमात्म-दर्शनरूप एक समाधि-अवस्थाकी कल्पना करते हैं। परन्तु इस क्रियासे भी सम्पूर्ण रूपसे अप्राकृत दृष्टि प्राप्त नहीं होती। इसके द्वारा अधिकसे अधिक प्राकृत ज्ञानका निरोध किया जा सकता है तथा एक प्रकारका खण्ड ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग योगपद्धतिसे भी अधिकतर व्यतिरेक चिन्ता द्वारा प्राकृत रूप आदिको तिरस्कारपूर्वक एक निराकार निर्विकार परमेश्वरस्वरूपकी कल्पना करते हैं, वे ऐसा समझते हैं कि उन्हें ब्रह्मदर्शन हो रहा है।

---

[२] यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/२६)

वास्तवमें उनका ब्रह्मदर्शन केवल भानमात्र है अर्थात् उनको ब्रह्मका वास्तविक दर्शन न होनेपर भी वे ब्रह्मज्योतिका दर्शन करके ऐसा मानते हैं कि उन्हें ब्रह्मका दर्शन हो रहा है।[३] इस विषयमें श्रीचैतन्य महाप्रभु सनातन गोस्वामीको उपदेश कर रहे हैं—

ज्ञान, योग, भक्ति,—तीन साधनेर वशे।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान्—त्रिविध प्रकाशे॥
(चै. च. म. २०/१५७)

अन्यत्र भी कहते हैं—

मुख्य-गौण-वृत्ति, किंवा अन्वय-व्यतिरेके।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्णके॥
(चै. च. म. २०/१४६)

अर्थात् जब जीव अपनेको द्रष्टा मानकर ईश्वरका दर्शन करना चाहता है, उस समय वह जिस अधिकारमें स्थित होता है, उस अधिकारके अनुरूप दिखाई देनेवाले ईश्वरस्वरूपका ही दर्शन करता है। कर्मयोगमें परमात्मा, ज्ञानयोगमें ब्रह्म और भक्तियोगमें भगवान्का दर्शन होता है। तत्त्वविद् पण्डितजन अद्वयज्ञान स्वरूपतत्त्वको ही तत्त्व[४] कहते हैं। उन्हीं अद्वय चित्-विग्रहको ही उपरोक्त तीन श्रेणीके साधक अपने-अपने दृष्टिकोणसे पृथक्-पृथक् रूपमें दर्शन करते हैं। वास्तवमें ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही तत्त्व है। जो जिस

---

[३] वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मनमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने॥
यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥
तस्मान्मनोवचः प्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते॥
(श्रीमद्भा. ११/१६/४२-४४)

[४] वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा. १/२/११)

रूपमें और जितने अंशोमें उसे देख पाते हैं, वे उसी दर्शनको सर्वश्रेष्ठ दर्शन मानते हैं।

श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं

उपर्युक्त भक्तियोगके द्वारा देखे जानेवाले भगवान् ही कृष्ण हैं। जो लोग कृष्णको साधारण मनुष्य और साधारण मनुष्य जैसा भोगी मानकर उनकी अवज्ञा करते हैं, उनका तत्त्वज्ञान अत्यन्त अल्प है—ऐसा समझना चाहिए। श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं। श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें इसके अनेक प्रमाण हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे-युगे॥
(श्रीमद्भा. १/३/२८)

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(ब्रह्मसंहिता ५/१)

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंका तात्पर्य अवलम्बनकर श्रीसनातन गोस्वामीको यह शिक्षा दी है कि भक्तियोग द्वारा जो भगवान्का दर्शन होता है—वही पूर्णरूप है। भगवान्के तीन प्रकारके रूप हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मरूप और आवेश। इनमेंसे व्रज-विहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्णरूप गोपमूर्त्ति ही—स्वयंरूप हैं। इन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके छह प्रकारके अवतार हैं—(१) पुरुषावतार, (२) लीलावतार, (३) गुणावतार, (४) मन्वन्तरावतार, (५) युगावतार, और (६) शक्त्यावेशावतार। (१) पुरुषावतार तीन होते हैं; कारणोदक-शायी प्रथम पुरुषावतार, गर्भोदकशायी—द्वितीय पुरुषावतार और क्षीरोदकशायी—तृतीय पुरुषावतार। (२) लीलावतार—अनेक हैं, जिनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम आदि प्रधान हैं। (३) गुणावतार तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। (४) मन्वन्तरावतार—एक-एक मन्वान्तरमें एक-एक मन्वन्तरावतार होता है। ये असंख्य हैं।

इस कल्पके चौदह मन्वन्तरावतार ये हैं—यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विष्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर और बृहद्भानु। (५) युगावतार चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें भगवान् कृष्ण क्रमशः शुक्ल, रक्त, कृष्ण और पीत वर्ण धारण करके अवतीर्ण होते हैं। (६) शक्त्यावेशावतार—ये असंख्य हैं, जैसे सनकादि, नारद, पृथु, परशुराम इत्यादि।

इस प्रकार कृष्ण ही इन समस्त प्रकारके असंख्य अवतारोंके मूल हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—ये छह भग हैं। इनसे युक्त पुरुष ही भगवान् हैं। इस दृष्टिसे श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं, क्योंकि उनमें स्वाभाविक तथा सम्पूर्ण रूपमें भगवत्ताका चरम प्रकाश है। कृष्णसे न कोई श्रेष्ठ है, और न कोई उनके समान ही है। कृष्ण स्वयंरूप अर्थात् गोपमूर्त्तिमें अपने नित्य धाम गोलोकमें नित्य विहार करते हैं। तदेकात्म पुरुषगण कृष्णकी इच्छासे कार्य करते रहते हैं। महाविष्णु ही कृष्णके प्रथम पुरुषावतार हैं। वे कारणसमुद्रमें शयन करते हैं। उनके दो अंश हैं—गर्भोदकशायी पुरुषावतार और क्षीरोदकशायी पुरुषावतार। राम और नृसिंह आदि अवतारसमूह पुरुषावतारके अंशकलामात्र हैं। परन्तु श्रीकृष्ण—स्वयंभगवान् हैं, पुरुषावतारोंके भी मूल हैं। अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्ण सबसे ऊपर रहकर भी युगपत् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके रूपसे अवतीर्ण होते हैं। उपनिषदोंमें जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है, वे ब्रह्म—श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति हैं।[५] योगशास्त्रों तथा वेदोंमें जिस परमात्माका वर्णन है, वे परमात्मा—कृष्णके एक अंश हैं।[६] इन दोंनों कथनोंकी पुष्टिके लिए अनेकों शास्त्र-प्रमाण

---

[५] यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/४०)

[६] कृष्णमेनवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥ (श्रीमद्भा. १०/१४/५५)

हैं, तर्कशास्त्र आदिकी युक्तियोंके सहारे इसे समझा भी नहीं जा सकता। जिस प्रकार सूर्य स्वरूपसे सम्पूर्ण सौरजगतमें आलोक द्वारा व्याप्त है, उसी प्रकार चिदानन्दस्वरूप अप्राकृत सर्व विक्रमयुक्त कृष्णरूप सूर्यकी वह अङ्गज्योति जो सर्वत्र व्याप्त है, वह व्यतिरेक चिन्ताशील पण्डितोंके चित्तमें निराकार-निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें प्रतिभात होती है। जगतकी सृष्टि करके उसमें प्रविष्ट हुए कृष्णके अंशको योगी लोग परमात्माके रूपमें दर्शन करते हैं। निराकार तथा निर्विकार धर्मसमूह प्राकृत सत्त्व गुणके विकार हैं। तथाकथित पण्डित लोग ऐसी ही उपासनामें मोहित हैं। वे खण्ड-ज्ञानी पण्डित लोग भगवान्‌के सच्चिदानन्द विग्रहका अनादरकर निराकार और निर्विशेष भावका आश्रय लेकर प्रेमधनसे सदाके लिए वञ्चित रह जाते हैं। ये लोग ऐसा सोचते हैं कि भगवान्‌का श्रीविग्रह माननेसे उनमें नरपूजा या जड़पूजाका दोष स्पर्श कर सकता है।

कृष्णदर्शनकी योग्यता

बुरे संस्कारोंसे ही ऐसे पवित्र जैवधर्ममें विप्लव हुआ करता है। जिनके हृदयमें कृष्णका माहात्म्य एवं उनका सौन्दर्य उदित हो जाता है, वे निराकार आदि व्यतिरेक बुद्धिसे मुक्त होकर अप्राकृत राज्यका दर्शन करते हैं। सौभाग्यवान जीवको ही ऐसा दर्शन प्राप्त होता है। दुर्भाग्यसे जो लोग साधारण-भौतिक-विज्ञानके चाक्‌चिक्यसे ही मोहित हैं, वे अप्राकृत राज्यकी अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त और अप्राकृत कालमें सर्वोच्च गोलोकपति होकर भी अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे भौमजगतमें अपनी स्वतन्त्र इच्छासे गोलोकमें स्थित व्रजके साथ स्वयं अवतीर्ण होकर भी सदैव शुद्ध सविशेष धर्ममें विचरण करते हैं अर्थात् इस भौतिक जगतमें उनके ऊपर प्राकृत काल आदिका कोई प्रभाव नहीं होता। इस कृष्णलीलाको आत्माकी विशुद्ध समाधिकी अवस्थामें ही देखा जा सकता है।[७]

---

[७] अथो महाभाग भगवान् मोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्ध-मुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥
(श्रीमद्भा. १/५/१३)

चर्म-चक्षुओंसे भगवान्‌का सच्चिदानन्दरूप और उनकी अप्राकृत लीलाका दर्शन नहीं किया जा सकता। कभी-कभी कृष्ण अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे चर्म-चक्षुओंके सामने भी अपनेको प्रकट करते हैं। परन्तु दुष्कृतिसम्पन्न मूढ़ जीव उनको पहचान नहीं पाते। कृष्णलीला नित्य है। वह प्राकृत देश और कालसे अपरिच्छिन्न है। उसे केवल आत्मगत भक्तिचक्षुसे ही देखा जा सकता है तथा भक्तिभावित मनसे ही उसका ध्यान किया जा सकता है।[८] जब तक प्राकृत ज्ञान-विज्ञानका अहंकार रहता है, तब तक परमतत्त्वका अनुशीलन करनेपर भी वह तत्त्व उससे बहुत ही दूर रहता है। परन्तु जो अपनेको तृणसे भी दीन-हीन समझकर जब व्याकुल हृदयसे श्रीकृष्णको पुकारता है, वही सौभाग्यवान व्यक्ति कृष्णका साक्षात्कार कर लेता है तथा उनकी कृपासे उनका असीम प्रेमानन्द प्राप्त करता है। सौभाग्यवश श्रद्धाका उदय हो जानेपर प्राकृत अहंकारसे छुटकारा मिल जाता है तथा नामापराधी बननेका डर नहीं रहता। कृष्णभजनमें जाति, वर्ण, प्राकृत विद्या, रूप, बल, भौतिक विज्ञानका बल, उच्च पद, धन और राज्य—ये कुछ भी सहायक नहीं होते। वरन् अधिकांश रूपमें जातिका अभिमान, रूप और धन आदिका अहङ्कार भक्तिके लिए प्रधान बाधक सिद्ध होता है[९]।

---

[८] भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपिमनुतेनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायाम् कृष्णे परम पुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥
(श्रीमद्भा. १/७/४-७)

[९] श्रिया विभुत्याभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान् सत्तोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः॥
(श्रीमद्भा. ११/५/९)

प्राकृत विज्ञान द्वारा अप्राकृत वस्तुको कदापि नहीं जाना जा सकता

प्राकृत विज्ञानका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह अपने अधिकारसे बाहरके भी सब तत्त्वोंको जानना चाहता है। अप्राकृत तत्त्वमें उसका अधिकार नहीं है, तथापि वह निर्लज्जकी भाँति उस दिशामें भी अपनी टाँग अड़ाता है तथा उसके सम्बन्धमें अतिशय क्षुद्र एवं भ्रमपूर्ण सिद्धान्त अपनाता है और अन्तमें स्वयं भी विकृत होकर अर्थात् अप्राकृत तत्त्व नामक कुछ है ही नहीं—ऐसी धारणा बनाकर उस विषयसे सर्वथा अलग हो जाता है। सत्सङ्गके प्रभावसे जीवके हृदयमें स्वाभाविक दैन्यका प्रकाश होता है। दैन्यरूप आधारपर ही कृष्णकी कृपा होती है। इस कृष्णकृपासे ही अप्राकृत तत्त्वमें अधिकार पैदा होता है। केवल भौतिक विचार या भौतिक ज्ञानके द्वारा अप्राकृत तत्त्वको कदापि नहीं जाना जा सकता।[१०]

कृष्णशक्ति

कृष्णकी शक्ति अनन्त प्रकारकी है। उन्होंने अनन्त जगतमें किस शक्तिको कहाँ प्रकाशित किया है, उसे क्षुद्र जैवज्ञानके द्वारा हम नहीं जान सकते। चित्-जगतमें अर्थात् विरजाके उस पार वैकुण्ठ है तथा वैकुण्ठसे भी ऊपर गोलोकमें व्रज विराजमान है। वैकुण्ठमें चतुर्भुज नारायणके रूपमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रकाशित हुआ है। गोलोकमें—माधुर्य-प्रधान प्रकाशमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य निहित रहता है।[११]

---

[१०] अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशनुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/२९)

[११] को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीड़सि योगमायाम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/२१)

मायाशक्ति

श्रीकृष्ण—स्वयं शक्तिमान हैं। उनके स्वरूपकी एक अचिन्त्य महाशक्ति है। शास्त्रोंमें कहीं-कहीं उस शक्तिको माया कहा गया है। "मीयते अनया इति माया", इस अर्थमें मायाको ही कृष्णका बाह्य परिचय कहा जा सकता है। मायाके बिना कृष्णका परिचय नहीं है। इस मायाको ही तत्त्वविद्‌गण कृष्णकी स्वरूपशक्ति बतलाते हैं तथा उसको परा और अपरा—दो भागोंमें विभक्तकर पराशक्तिको चित्-शक्ति तथा अपराशक्तिको मायाशक्तिके रूपमें वर्णन करते हैं। वास्तवमें पराशक्ति ही कृष्णकी एकमात्र अचिन्त्यशक्ति है। उसीकी छायाको ही अपराशक्ति कहा गया है। जड़ब्रह्माण्डकी स्वामिनी ही वह छायारूपी माया है।[१२] जगत सम्बन्धी जिस मायाशक्तिकी चित्-तत्त्वके विषयमें दूषित होनेके कारण निन्दा की जाती है, वह यही छायारूपा—माया-शक्ति है—स्वरूपशक्तिरूपा मायाशक्ति नहीं। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन गोस्वामीसे कहा—

कृष्णेर स्वाभाविक तिनशक्ति परिणति।
चिच्छक्ति, जीवशक्ति, आर मायाशक्ति॥
(चै. च. म. २०/१११)

और भी कहा है—

अनन्तशक्ति-मध्ये कृष्णेर तीन शक्ति प्रधान।
'इच्छाशक्ति', 'क्रियाशक्ति', 'ज्ञानशक्ति' नाम॥
(चै. च. म. २०/२५२)

अन्यत्र सार्वभौम भट्टाचार्यको भी उपदेश दे रहे हैं—

सच्चिदानन्दमय हय ईश्वर-स्वरूप।
तिन अंशे चिच्छक्ति हय तीन रूप॥

---

[१२] ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥
(श्रीमद्भा. २/९/३४)

आनन्दांशे 'ह्लादिनी', सदंशे 'सन्धिनी'।
चिदंशे 'सम्वित्', जारे कृष्णज्ञान मानि॥
अन्तरङ्गा—चिच्छक्ति, तटस्था—जीवशक्ति।
बहिरङ्गा—माया,—तिन करे प्रेमभक्ति॥
(चै. च. म. ६/१५८-१६०)

विभिन्न शक्ति-परिणाम

अर्थात् श्रीकृष्णकी आत्मशक्ति या स्वरूपशक्ति अथवा पराशक्ति एक है। परन्तु कृष्णकी इच्छासे उस पराशक्तिके तीन प्रकारके विभाव, तीन प्रकारके प्रभाव और तीन प्रकारके अनुभाव विकसित हुए हैं।[१३] चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—ये तीन विभाव हैं। सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये तीन अनुभाव हैं तथा इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति—ये तीन प्रभाव हैं। इनमेंसे (१) इच्छाशक्तिरूप प्रभावमें चित्-शक्ति द्वारा गोलोक, वैकुण्ठ आदि लीलापीठ, कृष्ण, गोविन्द आदि नाम, द्विभुज, चतुर्भुज और षड्भुज आदि विग्रहरूप, गोलोक, वृन्दावन और वैकुण्ठ धामके पार्षदोंके साथ लीला, दया, दाक्षिण्य और क्षमा आदि गुण विकसित हुए हैं। (२) ज्ञानशक्तिरूप प्रभावमें चित्-शक्ति द्वारा वैकुण्ठके सम्पूर्ण ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य आदिका विकास हुआ है। कृष्णके अतिरिक्त और किसीमें इच्छाशक्ति नहीं है। ज्ञानशक्तिके अधिष्ठाता वासुदेव-प्रकाश हैं और क्रियाशक्तिके अधिष्ठाता बलदेव-सङ्कर्षण आदि प्रकाश हैं। जीवशक्तिरूप तटस्थाशक्तिसे इच्छा, ज्ञान और क्रियाके प्रभाव द्वारा नित्य पार्षद, अधिकृत देवतावर्ग तथा मनुष्य, दैत्य, राक्षस आदि उदित हुए हैं। (३) कृष्णके समस्त क्रियानुभाव उनकी क्रियाशक्तिके प्रभावसे ही उदित हैं। चित्-शक्तिमें सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये विचित्रताएँ हैं। इन

---

[१३] यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥ (श्रीमद्भा. ४/९/१६)

सबके सम्मिलनसे परम प्रयोजनरूप प्रेमलीलाकी अन्वय-व्यतिरेक भावसिद्धि होती है। कृष्णकी शक्ति असीम, अनन्त और अपार है। चित्-शक्तिकी समस्त क्रियाएँ नित्य होती हैं। सनातन-शिक्षामें श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

यद्यपि असृज्य नित्य चिच्छक्तिविलास।
तथापि सङ्कर्षण-इच्छाय ताहार प्रकाश॥
(चै. च. म. २०/२५७)

अर्थात् यद्यपि कृष्णकी चित्-शक्तिका विलास नित्य है, तथापि सङ्कर्षणकी इच्छासे उसका प्रकाश होता है।

जड़प्रकृति

छायाशक्तिको ही जड़प्रकृति कहते हैं। इसके सम्बन्धमें श्रीचैतन्य-चरितामृतमें इस प्रकार वर्णन है—

माया-द्वारे सृजे तेहों ब्रह्माण्डेर गण।
जड़रूपा प्रकृति नहे ब्रह्माण्डेर-कारण॥
जड़ हैते सृष्टि नहे ईश्वरशक्ति बिने।
ताहातेइ सङ्कर्षण करे शक्तिर आधाने॥
ईश्वरेर शक्त्ये सृष्टि करये प्रकृति।
लौह जेन अग्निशक्त्ये पाय दाह-शक्ति॥
(चै. च. म. २०/२५९-२६१)

अर्थात् कृष्ण ही मायाशक्ति द्वारा समस्त ब्रह्माण्डोंका सृजन करते हैं। कोई-कोई जड़प्रकृतिको ही ब्रह्माण्डोंका मूल कारण मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि जड़प्रकृतिमें स्वयं कोई क्रिया करनेकी शक्ति नहीं है। ईश्वरशक्तिका उसमें सञ्चार होनेपर ही वह जगतका सृजन करती है। अन्यथा भगवत्-शक्तिके अभावमें वह सृष्टि कार्यका सम्पादन नहीं कर सकती। भगवान् सङ्कर्षण उस जड़प्रकृतिमें अपनी शक्तिका सञ्चार करते हैं। तभी वह सृष्टि कार्यमें समर्थ होती है। उदाहरणके लिए एक लोहेके डण्डेको

आगमें लाल करनेपर उससे लकड़ी, कागज आदि सब कुछ जल जाता है। यहाँपर उन वस्तुओंको लोहा नहीं जलाता, बल्कि अग्निकी दाहिका शक्ति ही उस लौह खण्डमें प्रवेश करके उन वस्तुओंको भस्म कर डालती है।

कृष्णकी क्रियाशक्तिका नाम ही सङ्कर्षणशक्ति है। मायाशक्तिका नश्वर परिणाम जड़जगत है। अगली चतुर्थ धारामें इस विषयमें कुछ विस्तारपूर्वक बतलाया जाएगा।

रसतत्त्व

श्रीकृष्ण ही स्वयं रसतत्त्व हैं—वेदोंमें ऐसा कहा गया है। सप्तम वृष्टिकी प्रथम धारामें रसतत्त्वका विशद विवेचन होगा। उसमें यह बतलाया जाएगा कि रस किसे कहते हैं। वाक्य—प्राकृत है। अतएव वाक्य जो कुछ कहते हैं या कहेंगे—वे चाहे जितना भी सावधानीके साथ ही क्यों न कहें—वह सब कुछ प्राकृत अथवा प्राकृतवत् ही होगा। यदि पाठक वास्तवमें श्रद्धालु हों, तभी उनके निर्मल चित्तमें अप्राकृत रस उदित होगा। परन्तु सत्सङ्ग और महासौभाग्यके फलस्वरूप ही ऐसा होना सम्भव होता है। तर्कके द्वारा लाख प्रयत्न करनेपर भी इसका उदय नहीं हो सकता। यदि जिज्ञासु व्यक्ति कुसङ्गमें पड़कर प्राकृत रसके अनुशीलनको ही अप्राकृत रसका अनुशीलन मानकर अनुशीलन करता है, तो वह प्राकृत रस-सहजियाका रूप धारण करके उसे सदाके लिए अधोगामी बना देता है। इसलिए विशेष सतर्कताके साथ रसतत्त्वका अनुभव करना चाहिए। श्रीकृष्ण स्वयं अखण्ड रस है। उनमें चौसठ अप्राकृत गुण हैं।[१४] इन चौसठ गुणोंमेंसे प्रथम पचास गुण बिन्दु-बिन्दुरूपमें जीवोंमें होते हैं। वे पचास

---

[१४] अयं नेता सुरम्याङ्गः सर्व-सल्लक्षणान्वितः।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसान्वितः॥
विविधाद्भुतभाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः।
वावदूकः सुपाण्डित्यो बुध्मिान प्रतिभान्वितः॥
विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढ़-व्रतः।
देश-काल-सुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशीः॥ (*अगले पृष्ठपर*)

गुण कुछ अधिक मात्रामें तथा इनके अतिरिक्त और भी पाँच अधिक गुण शिव, ब्रह्मा, गणेश और सूर्य आदि देवताओंमें लक्षित होते हैं। इसीलिए ये देवतागण विभिन्नांश होनेपर भी ईश्वर कहलाते हैं। पुनः पहलेके पचपन गुण पूर्णमात्रामें तथा इनके अतिरिक्त पाँच गुण पूर्ण

स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गम्भीरो धृतिमान् समः।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करूणो मान्य-मानकृत्॥
दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागत-पालकः।
सुखी भक्त-सुहृत् प्रेम-वश्यः सर्व-शुभङ्करः॥
(भ. र. सि. २/१/२३-२७)

प्रतापी कीर्त्तिमान् रक्तः लोक-साधु-समाश्रयः।
नारीगण-मनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान्॥
वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्त्तिताः।
समुद्रा ईव पञ्चाशत् दुर्विगाह्या हरेरमी॥
जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दु-बिन्दुतया क्वचित्।
परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे॥
(भ. र. सि. २/१/२८-३०)

अथ पञ्च-गुणा ये स्युरंशेन गिरीशादिषु॥
(भ. र. सि. २/१/३७)

सदा स्वरूप-संप्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः।
सच्चिदानन्द-सान्द्राङ्गः सर्वसिद्धि-निषेवितः॥
अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादि-वर्त्तिनः।
अविचिन्त्य-महाशक्तिः कोटि ब्रह्माण्ड-विग्रहः॥
अवतारावलीबीजं हतारि-गतिदायकः।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः॥
सर्वाद्भुत चमत्कार लीला-कल्लोल-वारिधिः।
अतुल्य-मधुर प्रेम-मण्डित प्रिय-मण्डलः॥
त्रिजगन्मानसाकर्षी-मुरली-कल-कूजितः ।
असमानोर्द्ध्व रूपश्रीः विस्मापित-चराचरः॥
लीला प्रेम्ना प्रियाधिक्यं माधुर्ये वेणुरूपयोः।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम्॥
(भ. र. सि. २/१/३८-४३)

एवं गुणाश्चतुर्भेदाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः।
(भ. र. सि. २/१/४४)

रूपमें अर्थात् साठ गुण पूर्ण मात्रामें नारायण, विष्णु और उनके अवतारोंमें देखे जाते हैं। विष्णुतत्त्वके साठ गुण तथा इनके अतिरिक्त और भी चार अप्राकृत असाधारण गुण कृष्णमें विराजमान होते हैं। ये चार गुण कृष्णके अतिरिक्त और किसीमें भी नहीं होते। इसलिए कृष्ण ही एकमात्र सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान और सर्वरसमय परतत्त्व हैं। स्वरूपशक्तिकी जितनी प्रकारकी विचित्रताएँ हैं, वे सब मूर्त्ति धारण करके श्रीकृष्णके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसके उपकरण हैं। ह्लादिनीके सारस्वरूप श्रीवृषभानुनन्दिनी राधिका श्रीकृष्णकी सर्वाधिक प्रियतमा हैं। गोलोक व्रजमें इस रसकी नित्य स्थिति होनेपर भी कृष्णकी इच्छासे योगमाया चित्-शक्ति उस रसको अखण्ड रूपमें भौमव्रजमें प्रकाशित करती हैं। जिनकी बुद्धि प्राकृत गुणोंको पार करनेकी शक्ति प्राप्त नहीं करती, वे इस अपार रसतत्त्वकी मीमांसा या उपलब्धि करनेमें समर्थ नहीं होते और इसलिए वे लोग व्रजरसको प्राकृत रस समझकर उसकी अवज्ञा करते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है कि जो लोग श्रद्धापूर्वक व्रजरसका वर्णन करते हैं अथवा श्रवण करते हैं, वे शीघ्र ही पराभक्तिस्वरूप कृष्णप्रेम प्राप्त करते हैं[१५] तथा जड़ोदित हृद्रोगरूप कामसे सदाके लिए छुटकारा पा लेते हैं। यही श्रीमन्महाप्रभुकी चरम शिक्षा है।

---

[१५] विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/३९)

चतुर्थ धारा

जीव—बद्ध और मुक्त

श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन-शिक्षामें जीवके सम्बन्धमें अत्यन्त सुन्दर और स्पष्ट उपदेश दिए हैं। उन उपदेशोंको ग्रहणकर जीवतत्त्वको सहज ही समझा जा सकता है। वे उपदेश हैं—

अद्वयज्ञान-तत्त्व कृष्ण—स्वयं भगवान्।
'स्वरूपशक्ति'-रूपे ताँर हय अवस्थान॥
स्वांशविभिन्नांश-रूपे हइया विस्तार।
अनन्त वैकुण्ठ-ब्रह्माण्डे करेन विहार॥
स्वांश-विस्तार—चतुर्व्यूह, अवतारगण।
विभिन्नांश जीव—ताँर शक्तिते गणन॥
सेई विभिन्नांश जीव—दुइ त' प्रकार।
एक—'नित्यमुक्त', एक—'नित्य-संसार'॥
'नित्यमुक्त'—नित्य कृष्णचरणे उन्मुख।
'कृष्ण-पारिषद' नाम, भुञ्जे सेवा-सुख॥
'नित्यबद्ध'—कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
'नित्यसंसार', भुञ्जे नरकादि दुःख॥
सेइ दोषे माया-पिशाची दण्ड करे तारे।
आध्यात्मिकादि तापत्रय तारे जारि' मारे॥
काम-क्रोधेर दास हञा तार लाठि खाय।
भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-वैद्य पाय॥
ताँर उपदेश-मन्त्रे पिशाची पलाय।
कृष्णभक्ति पाय, तबे कृष्ण-निकटे जाय॥

(चै. च. म. २२/७-१५)

अर्थात् अद्वयज्ञानतत्त्व श्रीकृष्ण स्वयंभगवान् हैं। अपनी स्वरूप-शक्तिमें ही वे सदैव स्थित रहते हैं। अपने स्वांश अर्थात् वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण और नृसिंह आदि रूपमें तथा विभिन्नांश अर्थात् वैकुण्ठगत मुक्त जीवसमूहके रूपमें विस्तृत होकर अनन्त वैकुण्ठ और अगणित ब्रह्माण्डोंमें विहार करते हैं। विभिन्नांश जीव भगवान्‌की शक्तिकी परिणति है, इसलिए वे शक्तितत्त्व माने जाते हैं। वे दो प्रकारके होते हैं—एक नित्यमुक्त जीव और दूसरे अनादि बद्धजीव। नित्यमुक्त जीवसमूह नित्यकाल सदैव श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवामें तत्पर रहते हैं। इनको कृष्णपार्षद या परिकर कहा जाता है। बद्धजीव अनादि कालसे कृष्ण-बहिर्मुख हैं और अनादि कालसे ही संसार-चक्रमें पड़कर नरक आदि दुःख भोग रहे हैं। माया-पिशाची इन कृष्ण-बहिर्मुख जीवोंको आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—त्रितापोंसे दग्ध करती रहती है। वे जीव काम-क्रोधादि छह वेगोंके दास होकर जन्म-जन्मान्तरोंतक ऊँची-नीची योनियोंमें दुःख-यन्त्रणाएँ भोग करते-फिरते हैं। यदि किसी सौभाग्यसे संसार-चक्रमें भ्रमण करते-करते कभी भगवद्भक्तरूपी वैद्यका सङ्ग मिल जाता है, तब उनके उपदेशमन्त्रसे माया-पिशाची उस जीवको छोड़ देती है और तब वह भक्ति प्राप्तकर श्रीकृष्णके समीप पहुँचकर उनके सेवासुखको प्राप्त करता है।

जीवका स्वरूप

पुनः जीवस्वरूपके सम्बन्धमें अन्यत्र सनातन-शिक्षामें कहते हैं—

जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'।
कृष्णेर 'तटस्था-शक्ति' 'भेदाभेद-प्रकाश'॥
सूर्यांशु-किरण जेन अग्नि ज्वालाचय।
(चै. च. म. २०/१०८-१०९)

जीवका स्वरूप—श्रीकृष्णका नित्य-दास है। वह श्रीकृष्णकी तटस्थाशक्तिका परिणाम है तथा श्रीकृष्णका भेदाभेद-प्रकाश है। जैसे

सूर्य और सूर्यका अंश किरण तथा अग्नि और उसकी चिनगारियोंमें सम्बन्ध हैं, वैसे ही श्रीभगवान्‌से जीवका सम्बन्ध है।

श्रीरूप-शिक्षामें भी कहते हैं—

एइमत ब्रह्माण्ड भरि' अनन्त जीवगण।
चौरासीलक्ष योनिते करये भ्रमण॥
केशाग्र-शतेक-भाग पुनः शतांश करि।
तार सम सूक्ष्म जीवेर 'स्वरूप' विचारि॥[१]
(चै. च. म. १९/१३८-१३९)

अर्थात् इस प्रकार अनन्त जीवसमूह चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हैं। एक केशके अग्रभागको एक सौ भागकर पुनः सौवें भागको एक सौ भाग करनेपर जो सूक्ष्म अंश हो सकता है, उससे भी सूक्ष्म जीवका स्वरूप होता है।

सार्वभौम-शिक्षामें ईश्वर और जीवके विषयमें कहते हैं—

'मायाधीश'-'मायावश'—ईश्वरे-जीवे भेद।
हेन-जीवे ईश्वर-सह कह त' अभेद॥
गीताशास्त्रे जीवरूप 'शक्ति' करि' माने।
हेन-जीवे 'भेद' कर ईश्वरेर सने॥
(चै. च. म. ६/१६२-१६३)

स्वांशतत्त्व

उपर्युक्त महावाक्योंका मूल तात्पर्य यह है कि स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अविचिन्त्यशक्ति-विशिष्ट और पूर्ण इच्छामय हैं। वे अपनी चित्-शक्तिके द्वारा स्वांश और विभिन्नांशके भेदसे दो प्रकारसे विलास करते हैं। स्वांश द्वारा चतुर्व्यूह और असंख्य अवतारोंका विस्तार करते हैं, तथा विभिन्नांश द्वारा जीव समष्टिका विस्तार करते

---

[१] केशाग्रशतभागस्य शतांशसदृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः॥
(चै. च. धृत श्लोक म. १९/१४०)

हैं[२]। स्वांश-विस्तार पूर्ण चित्-शक्तिकी क्रिया है। स्वांशतत्त्व अर्थात् अवतारसमूह सभी विष्णुतत्त्व और सर्वशक्तिमान हैं। सभी अंशावतारगण पूर्ण शक्ति प्राप्त है। जिस प्रकार एक महादीपसे अनन्त दीप प्रज्वलित होनेपर भी महाद्वीपका कुछ क्षय नहीं होता,[३] और उस महाद्वीपसे प्रज्वलित प्रत्येक दीप ही पृथक्-पृथक् रूपमें मूल महादीपके समान होते हैं, उसी प्रकार स्वांश-विस्तारको समझना चाहिए। स्वांश प्रकाशित सभी पुरुषगण महेश्वर हैं, वे जीवोंकी तरह कर्मफल भोग नहीं करते। ये सभी कृष्ण-तुल्य इच्छामय होकर भी कृष्ण-इच्छाके अधीनमात्र हैं।

विभिन्नांश जीवतत्त्व

चित्-शक्तिके अति सूक्ष्म खण्डांशसमूह विभिन्नांशरूपमें जीव होते हैं।[४] इसको तटस्थाशक्ति कहते हैं। चित्-शक्ति और मायाशक्तिके मध्यस्थित तत्त्व ही तटस्थाशक्ति है। इसमें मायाशक्तिकी कोई क्रिया या उसका अंश नहीं है। फिर भी अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण मायावश होने योग्य है। कृष्णकी निरकुंश इच्छा ही इसका मूल कारण है। विभिन्नांश जीवसमूह कर्मफल भोग करने योग्य होते हैं।[५]

---

[२] क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात् सञ्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद् गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/४५)

[३] दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/४६)

[४] (क) बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयस्तदनन्ताय कल्प्यते॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

(ख) सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः।
(श्रीमद्भा. ११/१६/११)

[५] आत्मानमन्यञ्च स वेद विद्वानपि पिपप्लादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्ययायुक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥
(श्रीमद्भा. ११/११/७)

वे जब तक अपनी स्वतन्त्र इच्छासे कृष्णसेवामें लगे रहते हैं, तब तक वे माया या कर्मके अधीन नहीं होते, परन्तु जिस समय वे अपनी स्वतन्त्र इच्छाका दुरुपयोगकर स्वयं भोक्ता बननेकी इच्छा करते हैं—कृष्णसेवा-धर्मको विस्मृत हो जाते हैं, तभी वे मायामोहित होकर कर्मके अधीन हो जाते हैं। परन्तु संसारमें भ्रमण करते-करते सौभाग्यवश यदि साधुसङ्ग मिल जाता है, तब साधुकी कृपासे उनको यह स्मरण हो आता है कि कृष्णसेवा ही उनका स्वरूप धर्म है। ऐसा स्मरण होनेपर तत्क्षण मुक्ति उनके निकट उपस्थित होकर कर्मबन्धन और माया-यन्त्रणासे उनका उद्धार करती है।[६] जड़जगतमें आनेसे पूर्व ही उनका बन्धन होनेके कारण उनके बन्धनको अनादि कहा गया है। इसीलिए उनको नित्यबद्ध कहा जाता है। जो जीव ऐसे बद्ध नहीं हुए, वे नित्यमुक्त कहलाते हैं और जो बद्ध हो गए हैं, वे नित्यबद्ध हैं।

कृष्ण और जीव

इन्हीं कारणोंसे ईश्वरस्वरूप और जीवस्वरूपमें विशेष अन्तर देखा जाता है। ईश्वर मायाधीश हैं और जीव मायाके वशीभूत होने योग्य होता है तथा इसी कारण मायाबद्ध भी होता है।[७] कृष्णरूप विभुचित् स्वरूपका अंश होनेके कारण जीवको विचारकी दृष्टिसे चित्कण और कृष्णसे भिन्नतत्त्व कहा जा सकता है। परन्तु कृष्णकी शक्ति होनेके कारण जीवको कृष्णसे अभिन्न भी माना जाता है। इसलिए श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी ने जीवको भेदाभेद प्रकाश मानकर अचिन्त्यभेदाभेद-

---

[६] भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥
(श्रीमद्भा. ११/२/३७)

[७] त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आससे॥
(श्रीमद्भा. ४/९/१५)

तत्त्वकी शिक्षा दी है। उन्होंने जीवोंकी तुलना सूर्यांशु-किरणकणों और अग्निकी चिनगारियोंसे देकर उन्हें कृष्णसे नित्य भिन्न-विभिन्नांश माना है। "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वेदके प्रादेशिक वाक्यों द्वारा जीवका परब्रह्मत्व कदापि सिद्ध नहीं होता। कृष्ण अर्थात् विष्णुतत्त्व ही एकमात्र परब्रह्म हैं। जीवको भी चित्-तत्त्व होनेके कारण वस्तुतः ब्रह्म कहा जा सकता है। परब्रह्मस्वरूप कृष्णकी स्वरूपकान्तिको ब्रह्मतत्त्व कहते हैं, जो जगतमें परमात्माके रूपमें अपना एक अंश विस्तार करते हैं और जगतके बाहर व्यतिरेक अवस्थामें निर्विशेष आविर्भावरूप अचिन्त्य, अदृश्य अप्राप्य ब्रह्मरूपमें अपनी प्रतिभाका विस्तार करते हैं। कृष्णके अचिन्त्य विभिन्नांश—देवता, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पशु, कीट, पतङ्ग, भूत और प्रेत आदि नानारूपोंमें विस्तृत हैं। समस्त प्रकारकी योनियोंमें मनुष्य योनि ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि जीव इस दुर्लभ जन्ममें कृष्णभक्ति करनेके योग्य होता हैं। मनुष्यजन्म प्राप्त करनेपर भी जीव अपने कर्मदोषके कारण स्वर्ग और नरक आदिका भोग करता है। मायावशीभूत जीव कृष्णको भूलकर नाना प्रकारकी कामनाओंकी पूर्त्तिकी आशामें अनादि कालसे जगतमें इधर-उधर भटक रहा है।

जीवका स्वरूप

अणुचैतन्य जीव स्वभावतः पूर्ण चैतन्यरूप कृष्णका दास है। कृष्णदास्य ही जीवका स्वरूप है। अपने उस नित्य स्वरूपको भूलकर जीव माया द्वारा बँधा हुआ है। परन्तु अपने नित्य स्वरूपका स्मरण होनेपर जीव मायासे मुक्त होकर अपने नित्य स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। चैतन्यवस्तुका जो स्वाभाविक शक्ति-धर्म है, वह अणुचैतन्य जीवमें अणुमात्रामें विद्यमान होता है। इसलिए जीव प्रायः स्वभावतः निःशक्तिक होता है—मुक्तावस्थामें कृष्णशक्ति प्राप्तकर उसी अनुपातमें शक्तियुक्त होता है। "मैं चैतन्य-वस्तु हूँ"—ऐसा अध्यास करके जीवको शक्ति प्राप्त नहीं होती, वरन् वैसे अध्याससे जो मुक्ति होती है, उसे निर्वाण मुक्ति कह सकते हैं। परन्तु "मैं कृष्ण दास हूँ"—इस अध्याससे

जीव कृष्णशक्ति प्राप्तकर उसके द्वारा नित्य आनन्दको प्राप्त हो जाता है। इससे आनुषंगिक रूपमें मायाध्यासरूप भय भी दूर हो जाता है।

बद्धजीवकी दुरावस्था

बद्धजीव नाना प्रकारके आकारोंमें लक्षित होते हैं। ऐसा होनेका कारण, जीवोंके अपने-अपने कर्मफल[८] ही हैं। जीवका गठन शुद्ध चित्-तत्त्वसे हुआ है। उसके गठनमें किसी मायिक गुण या मायिक धर्मका मिश्रण नहीं है। यदि हम ऐसा मान लें कि जीवका गठन मायिक धर्मसे हुआ है, तो इस तरहके विचारमें मायावाद स्थान ग्रहण कर लेता है अर्थात् इससे मायावाद स्वीकारका दोष उपस्थित होता है। जीव वास्तवमें शुद्ध चित्-वस्तु है तथा चिद्धर्मसे गठित है। तटस्थ-धर्म वशतः जीव मायिक धर्ममें आबद्ध होने योग्य होता है; वह भी केवल उस अवस्थामें ही जब वह कृष्णदास्यरूप अपना स्वधर्म भूल जाता है। शुद्ध जीवकी सत्ता, उसका आकार और विकार—सब कुछ चिन्मय होता है। किन्तु जीव अणुचैतन्य होनेके कारण उसकी सत्ता और उसके आकार आदि भी अणु होते हैं। इसलिए जब जीव मायाबद्ध होता है, तब सबसे पहले माया निर्मित मनोमय लिङ्गदेह जीवके शुद्ध आकारको आच्छादित करता है और कर्मक्षेत्रमें उपस्थित होनेपर स्थूलदेह उस लिङ्गदेहको भी ढककर उसे जड़कर्मोंके लिए उपयोगी बना देता है।[९] पर स्मरण रहे कि शुद्धस्वरूपको ऊपरसे ढकनेवाले स्थूल और लिङ्गशरीर मायिक विकार हैं, आत्मस्वरूप नहीं। परन्तु दोनोंमें सौसादृश्य है। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच मायिक स्थूलतत्त्वोंसे बद्धजीवका स्थूलशरीर गठित होता है तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तीन

---

[८] मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥
(श्रीमद्भा. ११/२२/३७)

[९] मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्॥
(श्रीमद्भा. ११/२६/१)

लिङ्गतत्त्वोंसे लिङ्गशरीर गठित होता है।[१०] इन दोनों आच्छादनोंके दूर होनेपर जीव मायासे मुक्त हो जाता है तथा तब जीवका आत्ममय चित्-शरीर प्रकाशित होता है। मुक्तपुरुष अपने आत्मशरीरकी इन्द्रियोंसे कार्य करते हैं। स्थूलजगतका आहार, विहार, स्त्रीसङ्ग, मलमूत्रत्याग, शारीरिक आघात, पीड़ा और वियोगका क्लेश—वह कुछ भी चित्-शरीरमें नहीं होता। जीव देहात्माभिमानरूप विवर्त्त धर्ममें स्थूलशरीर द्वारा जो कार्य करते हैं, उसे भ्रमसे स्वीकारकर सुख-दुःखका अनुभव करते हैं।[११] मुक्तपुरुषोंके सम्बन्धमें और भी एक गूढ़ रहस्य है, वह यह कि मुक्त होनेपर भी जब तक जड़-ज्ञानाभिमान रहता है या जड़-व्यतिरेक निर्वाणबुद्धि रहती है, तब तक भक्तिके उपयोगी भागवती तनु (देह) प्राप्त नहीं होता।[१२] भक्त-साधुसङ्गके फलस्वरूप जो गौण मुक्तिदशा उपस्थित होती है,

---

[१०] भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(श्रीगी. ७/४-५)

[११] प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान्।
तत्त्वेन स्पर्शसंमूढः संसार प्रतिपद्यते॥
नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान्।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते॥
यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः॥
यथामनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आमिनः॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥
(श्रीमद्भा. ११/२२/५१, ५३-५६)

[१२] हन्तास्मिन् जन्मनि भवान्न मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायानां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥
(श्रीमद्भा. १/६/२१)

वही शुद्ध भागवती तनुका उदय करा सकती है।[१३] ज्ञानी-जनोंके सङ्गसे जो मुक्ति होती है, वह यथार्थ मुक्ति नहीं, बल्कि मुक्तिका अभिमानमात्र है। वह भी जीवोंके लिए केवल एक दुर्गतिमात्र है।[१४] यहाँ संक्षेपमें जीवका शुद्धस्वरूप, बद्धस्वरूप और मुक्तस्वरूप—इन विषयोंकी आलोचना की गयी है, जीवके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार अन्यत्र किया जाएगा।

---

(१३) एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः।
कालः प्रादुरभूत् काले तड़ित्सौदामिनी यथा॥
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥
(श्रीमद्भा. १/६/२७-२८)

(१४) येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरु ह्यकृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥
(श्रीमद्भा. १०/२/३२)

पञ्चम धारा

अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व

गत धाराओंमें कृष्ण, कृष्णशक्ति, कृष्णरस, जीवस्वरूप, बद्धजीव और मुक्तजीव—इन छह प्रमेयोंका विवेचन हो चुका है। इस धारामें अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्वका संक्षेपमें विवेचन किया जा रहा है। सर्वप्रथम इस विषयसे सम्बन्धित श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके उपदेशोंकी (चैतन्य-चरितामृतसे) अवतारणा की जा रही है। काशीके प्रख्यात मायावादी संन्यासी प्रकाशानन्द सरस्वतीको शिक्षा देते समय श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

शक्ति-परिणामवाद—

व्यासेर सूत्रेते कहे 'परिणाम'-वाद।[१]
'व्यास भ्रान्त'—बलि' तार उठाइल विवाद॥
परिणाम-वादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि' 'विवर्त्त'-वाद स्थापना जे करि॥
वस्तुतः परिणाम-वाद—सेइ से प्रमाण।
देहे आत्मबुद्धि— हय विवर्त्तेर स्थान॥
अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगद रूपे पाय परिणाम॥[२]

---

[१] यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसंभवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥
(श्रीमद्भा. ३/२८/४०)

[२] कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्ममहतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥
महतस्तु विकुर्वाणाद्रजः-सत्त्वोपबृंहितात्।
तमःप्रधारस्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः॥ (श्रीमद्भा. २/५/२२-२३)

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥
नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥
(चै. च. आ. ७/१२१-१२६)

स्वरूप-ऐश्वर्ये ताँर नाहि मायागन्ध।
सकल वेदेर हय भगवान् से 'सम्बन्ध'॥
ताँरे 'निर्विशेष' कहि, चिच्छक्ति ना मानि'।
अर्द्धस्वरूप ना मानिले पूर्णता हय हानि॥
(चै. च. आ. ७/१३९-१४०)

अर्थात् महर्षि वेदव्यासके द्वारा रचित वेदान्तसूत्रोंसे शक्ति-परिणामवादकी पुष्टि होती है। परन्तु श्रीशङ्कराचार्यने इसे अपने कपोलकल्पित मायावादका विरोधी जानकर श्रीवेदव्यासको भ्रान्त बतलाकर उक्त परिणामवादको अस्वीकार किया है। परिणामवाद स्वीकार करनेसे ईश्वर विकारी हो पड़ते हैं, ऐसा विचारकर उन्होंने विवर्त्तवादकी स्थापना की। किन्तु उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें कहीं भी शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित विवर्त्तवादका उल्लेख नहीं है; वरन् उनमें स्थूलशरीरमें आत्मबुद्धि रखनेको ही विवर्त्तका स्थल कहा गया है। भगवान् अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न हैं। उनकी इच्छासे ही उनकी अचित्-शक्ति अनन्त जगत रूपमें तथा अणु चित्-शक्ति या जीवशक्ति अनन्त जीवोंके रूपमें परिणत होती है। इतना होनेपर भी भगवान् स्वयं निर्विकार रहते हैं। उदाहरणार्थ, प्राकृत चिन्तामणिको लिया जा सकता है। जैसे—चिन्तामणिसे मनोवाञ्छित नाना प्रकारकी रत्नराशि पैदा होती है, फिर भी चिन्तामणि स्वयं अविकृत रहती है; उसी प्रकार भगवत्-शक्तिसे जीवजगत प्रकटित होनेपर भी भगवान् स्वयं अविकृत रहते हैं। भगवान्के स्वरूपगत ऐश्वर्यमें मायाकी कहीं गन्ध भी नहीं है। सशक्तिक निखिल अप्राकृत गुणोंके आधार सविशेष ब्रह्म ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं। उनकी चित्-शक्ति आदिको अस्वीकारकर

उन्हें केवल निर्विशेष मानना 'अर्द्ध कुक्कुटी न्याय' के अनुसार सिद्धान्त-विरुद्ध है।

पुनः सार्वभौम-शिक्षाके अवसरपर वे कहते हैं—

उपनिषद्-शब्दे जेइ मुख्य अर्थ हय।
सेइ अर्थ मुख्य,—व्याससूत्रे सब कय॥
मुख्यार्थ छाड़िया कर गौणार्थ कल्पना।
'अभिधा'-वृत्ति छाड़ि' कर शब्देर लक्षणा'॥
(चै. च. म. ६/१३३-१३४)

अर्थात् उपनिषद्-मन्त्रोंका जो मुख्य अर्थ है—श्रीव्यासजीने वेदान्त-सूत्रोंके द्वारा उसीको प्रकट किया है। शङ्कराचार्यने मुख्यार्थको छोड़कर लक्षणा द्वारा गौणार्थकी कल्पना की है। इन्होंने शब्दोंकी अभिधा-वृत्तिकी उपेक्षा की है।

काशीवासी संन्यासियोंको शिक्षा देते समय श्रीमन्महाप्रभुने और भी कहा था-

'प्रणव' से महावाक्य—वेदेर निदान।
ईश्वरस्वरूप प्रणव—सर्वविश्व-धाम॥
सर्वाश्रय ईश्वरेर करि प्रणव उद्देश।
'तत्त्वमसि'-वाक्य हय वेदेर एकदेश॥
'प्रणव', महावाक्य—ताहा करि' आच्छादन।[३]
महावाक्ये करि' 'तत्त्वमसि'र स्थापन॥
(चै. च. आ. ७/१२८-१३०)

प्रभु कहे, "वेदान्तसूत्र— ईश्वर-वचन।
व्यासरूपे कैल ताहा श्रीनारायण॥
भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइसब॥
उपनिषत्-सहित सूत्र कहे जेइ तत्त्व।
मुख्यवृत्त्ये सेइ अर्थ परम महत्त्व॥

---

[३] ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः। (श्रीगी. १७/२३)

गौणवृत्ये जेवा भाष्य करिल आचार्य।
ताँहार श्रवणे नाश हय सर्व कार्य॥
ताँहार नाहिक दोष, ईश्वर-आज्ञा पाञा।[४]
गौणार्थ करिल, मुख्य अर्थ आच्छादिया॥
'ब्रह्म'-शब्दे मुख्य अर्थे कहे—'भगवान्'।
चिदैश्वर्य-परिपूर्ण अनूर्द्धव समान॥
ताँहार विभूति, देह,—सब चिदाकार।
चिद्विभूति आच्छादिया ताँरे कहे 'निराकार'॥
चिदानन्द—देह ताँर स्थान, परिवार।
ताँरे कहे,—प्राकृत-सत्त्वेर विकार॥
ताँर दोष नाहि, तेंहो आज्ञाकारी दास।
आर जेइ शुने, तार हय सर्वनाश॥
(चै. च. आ. ७/१०६-११४)

प्रणव ही महावाक्य है

भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्यदेवके इन महावाक्योंका फलितार्थ यह है कि प्रणव अर्थात् 'ऊँकार'—कृष्णका गूढ़ नाम है, वेदका आदि बीज है तथा सर्व वेदमय शब्दब्रह्म है। प्र+नु (स्तुति करना)+अन्=प्रणव। स्तवनीय परब्रह्मका शाब्दिक अवतार ही ऊँकार है। ऊँकारसे सारे वेद प्रकटित हैं। वस्तुतः प्रणव ही वेदका बीज एवं महावाक्य है तथा वेदके अन्यान्य सभी वाक्य प्रादेशिक वाक्य हैं। मायावादके प्रचारक श्रीशंकराचार्यने प्रणवकी महावाक्यताको आच्छादितकर (१) अहं ब्रह्मास्मि (मैं ही ब्रह्म हूँ), (२) प्रज्ञानं ब्रह्म (प्रज्ञान ही ब्रह्म है), (३) तत्त्वमसि (तुम ही ब्रह्म हो), और (४) एकमेवाद्वितीयम् (एकके

---

[४] स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु।
माञ्च गोपय येन स्यान सृष्टिरेषोतरोतरा॥
(पद्मपुराण उ. सहस्रनाममें शिवजीके प्रति श्रीकृष्णके वाक्य)
मायावादमसञ्छास्त्रं प्रच्छन्न बौद्धमेव च।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्तिना॥
(तत्रैव)

अतिरिक्त दो नहीं है)—इन चार प्रादेशिक वेदवाक्योंको ही महावाक्य बतलाया है। उनके ऐसा कहनेका कारण यह था कि वे शुद्धभक्तिका आच्छादनकर केवल-अद्वैतवादरूप मायावादका प्रचार करना चाहते थे। वेदबीज प्रणव शुद्धभक्तिपरक होनेके कारण उसे महावाक्य स्वीकार करनेसे उनकी अभीष्ट सिद्धिमें बाधा उपस्थित होती थी। इसलिए उन्होंने वेदके यथार्थ महावाक्यको छोड़कर अपने मतकी पुष्टिके अनुकूल वेदके उपर्युक्त चार प्रादेशिक वाक्योंको ही महावाक्य बतलाकर तथा इनकी मनमाने ढंगसे व्याख्याकर अपने अभीष्ट मत केवलाद्वैतका प्रचार किया। उनके केवलाद्वैत मतके अनुसार जीवकी सत्ता और ब्रह्मकी ईश्वरता भी मायाके कारण ही है। ब्रह्म-निर्वाण या मायाविच्छेदसे ही जीवकी मुक्ति होती है। परन्तु इसमें परब्रह्मके साथ जीवका जो शुद्ध सम्बन्ध है, उसे छिपा दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें वेदका सर्वाङ्गीण विचार भी नहीं है। इसलिए श्रीमध्वाचार्यने कतिपय वेदवाक्योंके आधारपर द्वैत मतकी स्थापना की है। परन्तु इसमें भी वेदका सर्वाङ्गीण विचार न होनेके कारण सम्बन्धतत्त्व प्रस्फुटित नहीं हुआ। श्रीरामानुजाचार्यने भी विशिष्टाद्वैतवादमें सम्बन्ध-ानको परिस्फुट नहीं किया है। द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बादित्य स्वामीने भी उसी प्रकार कुछ अंशों तक असम्पूर्णताका ही प्रचार किया है। विष्णुस्वामीने भी अपने प्रचारित शुद्धाद्वैत मतमें कुछ अस्पष्टता रख छोड़ी है। अन्तमें श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने प्रेमधर्मकी नित्यता स्थापन करनेके लिए अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व द्वारा सम्बन्धज्ञानकी सम्पूर्ण शुद्धताकी शिक्षा देकर जगतको वितर्करूप अन्धकारसे उबारा है।

अचिन्त्यभेदाभेद व शक्ति-परिणामवाद ही ब्रह्मसूत्रका मत

श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—एकमात्र प्रणव ही महावाक्य है; उसमें जो अर्थ है, वह उपनिषदोंमें जाज्वल्यमान है। उपनिषदोंकी शिक्षाओंका श्रीव्यासदेवने अपने ब्रह्मसूत्रमें अनुमोदन किया है। व्याससूत्रका भाष्य श्रीमद्भागवत है। व्याससूत्रके पहले सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" में ही परिणामवादकी प्रतिष्ठा है। ठीक इसी प्रकार परिणामवादकी शिक्षा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इस उपनिषद् मन्त्रमें दी गई है।

श्रीमद्भागवतमें भी इसी अर्थका प्रतिपादन हुआ है। परिणामवाद स्वीकार करनेपर ब्रह्मको विकारी मानना पड़ता है—ऐसी आशंकाकर श्रीशङ्कराचार्यने विवर्त्तवादकी स्थापना की है। वास्तवमें ब्रह्मविवर्त्त ही समस्त दोषोंका मूलाधार है। परिणामवाद सर्वशास्त्र सम्मत विशुद्ध सत्यतत्त्व है। परमेश्वरकी शक्तिकी नित्यता स्वीकार नहीं करनेसे परिणामवादमें परमेश्वरके विवर्त्त-विकार आदि महादोषस्वरूप हैं। परन्तु परबह्मकी नित्य स्वाभाविकी पराशक्ति स्वीकृत होनेपर उन दोषोंकी सम्भावना नहीं रहती—शक्तिका जो विचित्र विकार है, उसीसे विश्व प्रकट हुआ है—यही सत्य है। ब्रह्म कदापि विकारी नहीं है। ब्रह्मकी शक्तिके विकारके फलस्वरूप जड़जगत और जैवजगत हुआ है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने इस विषयमें चिन्तामणिका दृष्टान्त दिया है। चिन्तामणिसे स्वर्ण निकलनेपर भी वह स्वयं अविकृत रहती है, उससे उसमें कोई ह्रास या वृद्धि नहीं होती, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कृष्णशक्तिसे ही सम्पूर्ण सृष्टि हुई है, तथापि कृष्ण उससे विकारी नहीं होते। सब कुछ शक्तिका ही परिणाम है। चित्-शक्तिके पूर्ण परिणामसे वैकुण्ठ आदि धाम, नाम, रूप, गुण, लीला और अणु-परिणामसे असंख्य चित्कण जीवसमूह प्रकट हुए हैं। मायाशक्तिके परिणामसे समस्त जड़जगत और जीवोंके स्थूल और लिङ्गशरीर रचित हुए हैं। जड़जगत कहनेसे चौदह भुवनको ही समझना चाहिए। वेदान्तसूत्रमें और उपनिषदोंमें सर्वत्र ही इस परिणामवादका उल्लेख है। महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, तेज, वायु, जल और पृथ्वी—इनका क्रम परिणामविकास ही परिणामवाद है। केवल-अद्वैतवादका पोषण करनेसे चरम अवस्थामें कुछ भी हाथ नहीं लगता। उसमें "जीव और जगत अविद्याकल्पित हैं।"—केवल ऐसी ही प्रतीति होती है। परन्तु यह प्रतीति निराधार एवं कष्टकल्पना मात्र है।[५] शुद्ध परिणामवादके अनुसार कृष्णकी इच्छासे जैवजगत और जड़जगत हुए हैं और ये सत्य हैं। सृष्टि कोरी कल्पना या कल्पित नहीं है। परन्तु सत्य

[५] श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/४)

होनेपर भी कृष्णकी इच्छासे जड़जगतका लय हो सकता है। इसलिए जगतको नश्वर कहा जा सकता है। चिन्मयस्वरूप परमेश्वर सृष्टि करके जगतमें अणु प्रविष्ट होकर भी स्वयं स्वतन्त्र पूर्णशक्ति द्वारा परिसेवित स्वेच्छामय कृष्णके रूपमें नित्य पृथक् रूपसे विराजमान हैं।[६] जो लोग इस अपूर्व तत्त्वको जान लेते हैं, केवल वे लोग ही श्रीकृष्णके अपार ऐश्वर्य और माधुर्यका आस्वादन करनेमें समर्थ हैं। श्रीकृष्ण और जीवमें यही यथार्थ सम्बन्ध है। नश्वर जगतके साथ जीवका सम्बन्ध अनित्य है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार किसी धर्मशालामें ठहरे हुए व्यक्तिका उस धर्मशाला या उसमें ठहरे व्यक्तियोंके साथ अनित्य सम्बन्ध होता है। कल्याणकामी जीवको सांसारिक पदार्थोंके प्रति युक्तवैराग्य अवलम्बन करके उनका भगवत्-सेवाके उपकरण रूपमें सद्व्यवहार करना उचित है। जब तक ऐसी नित्यानित्य सम्बन्धबुद्धि उदित न हो, तब तक बद्धजीवमें उचित क्रिया उदित नहीं होती।

अचिन्त्यभेदाभेद तर्कातीत

इस सिद्धान्तके अनुसार कृष्णसे जीवका भेद और अभेद दोनों हैं। साथ ही कृष्णसे जगतका भी भेद और अभेद सत्य है। मानवबुद्धि ससीम होनेके कारण उसके द्वारा इस भेदाभेदको समझा नहीं जा सकता, इसलिए भेदाभेदतत्त्वको अचिन्त्य कहा गया है। अचिन्त्य होनेपर भी युक्ति या तर्कको इसमें असन्तुष्ट होनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्की शक्ति अचिन्त्य है—यह युक्तिसङ्गत ही है। उस शक्तिसे जो कुछ स्थापित हुआ है, वह भी हमारे लिए कृपालब्ध तत्त्व है[७]। अचिन्त्य भावमें तर्क नहीं उठाना चाहिए—ऐसा

---

[६] यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेव्यहम्॥
(श्रीमद्भा. २/९/३५)

[७] यावानहं यथाभावो यद्रुपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥
(श्रीमद्भा. २/९/३२)

हमारे प्राचीन आचार्योंका उपदेश है; क्योंकि अचिन्त्य विषयमें तर्क कभी भी प्रमाणके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं होता।[८] जो लोग इस तथ्यको स्वीकार नहीं करते, उनकी दुर्दशाका अन्त नहीं होता।

---

[८] अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
'नैषातर्केण मतिरापन्येया'—इत्यादि वेदवाक्याणि॥

षष्ठ धारा

साधन-निर्णय

अब तक सात प्रमेयोंका विचार किया जा चुका है, जिनमें यह निर्णय किया गया कि सम्बन्धतत्त्व क्या है? उस तत्त्वज्ञानके द्वारा यह बतलाया गया है कि जीव अपना नित्य कृष्णसम्बन्ध विस्मृत होकर त्रितापज्वलित संसार-सागरमें पतित होकर दुःख पा रहे हैं। वह कष्ट कैसे दूर हो—इस तथ्यपर विचार करनेपर यह जाना गया कि पूर्वोक्त सम्बन्धको पुनः स्थापित करनेसे सम्पूर्ण दुःख तो दूर हो ही जाएँगे, साथ ही परमानन्दकी प्राप्ति भी होगी।

विवर्त्तवाद

जीव नित्यसिद्ध चिद्वस्तु है। जीवको यथार्थमें कोई बन्धन या क्लेश नहीं है। केवल देहात्म-अभिमान रहनेके कारण विवर्त्तरूप भ्रमसे ऐसी यन्त्रणा हो रही है। रज्जुमें सर्पभ्रम और सीपमें रजतभ्रम—विवर्त्तके ये दो वैदिक उदाहरणोंको भली प्रकार न समझनेके कारण ही मायावादी लोग जीवकी सत्ताको ही ब्रह्मका विवर्त्त माननेका भ्रम करते हैं। अर्थात् मायावादी ऐसा कहते हैं कि जीव वास्तवमें ब्रह्म ही है; भ्रमवश जीव-सा दीख पड़ता है। परन्तु जब सद्गुरुकी कृपासे जीव यह जान लेता है कि ये उदाहरण जीवकी सत्ताके सम्बन्धमें नहीं दिए गए हैं, बल्कि ये उदाहरण जीवके स्थूल और लिङ्गदेहमें जो आत्मबुद्धि होती है, उसके सम्बन्धमें ही प्रयोग किए गए हैं, तब वह सुपथ देख पाता है। परिणाम और विवर्त्तमें भेद यह है; जब कोई वस्तु अन्य आकार धारण करती है, तब

उसीको विकार या परिणाम[१] कहते हैं। अम्ल-योगसे दूध विकृत होकर दधि होता है। यह परिणामका उदाहरण है। जहाँ वस्तु ही नहीं है, फिर भी वहाँपर किसी अन्य वस्तुमें अन्यथाबुद्धि होती है, उसे विवर्त्त कहते हैं, जैसे सर्प नहीं है, फिर भी रज्जु (रस्सी) रूप अन्य वस्तुमें मिथ्या ही सर्पका भ्रम हो रहा है। रजत (चाँदी) नहीं है, फिर भी सीपमें रजतका भ्रम हो रहा है। इन दोनों स्थलोंमें 'अतत्त्वतो अन्यथा-बुद्धिरूप' विवर्त्त भ्रम है। जीव शुद्ध चिद्-वस्तु है। वे वस्तुतः मायाबद्ध नहीं होते, केवल विवर्त्तबुद्धि प्रबल होनेपर जिस समय आत्माको देहके साथ एक जानकर देहमें ही आत्मबुद्धि करते हैं, तभी विवर्त्तभ्रम होता है। बद्धजीवकी ऐसी दुर्दशा उपस्थित होनेपर विवर्त्तका स्थल[२] लक्षित होता है। यह विवर्त्तबुद्धि तब ही दूर होगी, जब सद्गुरुके निकट सदुपदेश प्राप्तकर "मैं कृष्णदास हूँ" ऐसा अभिमान दृढ़ होगा।[३] अतएव मोक्षकी वासना परित्यागकर कृष्णभक्ति करनेसे विवर्त्तबुद्धि सहज ही विदूरित हो जाएगी। मोक्षके अनुसन्धानसे स्वधर्मका साधन नहीं होता, केवल व्यतिरेक अनुशीलन ही होता है।[४] अतएव भक्ति ही एकमात्र साधन है। अर्वाचीन लोग भक्तिको दूर रखकर या तो कर्मको अथवा ज्ञानको साधन बतलाते हैं।[५] ज्ञान

---

(१) अतत्त्वोऽन्यथाबुद्धिर्विवर्त्त इत्युदाहृत।
सतत्त्वोऽन्यथा बुद्धिर्विकार इति शब्द्यते॥ —कश्चित् मायावादाचार्यः

(२) स एव यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविसज्जते।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥
तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्य निर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु॥ (श्रीमद्भा. ३/२७/२-३)

(३) एवं गुरुपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मनमथ त्यजास्त्रम्॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/२४)

(४) यस्ततु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वैः वणिक्॥
(श्रीमद्भा. ७/१०/४)

(५) नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विड़म्बनम्॥ (श्रीमद्भा. ७/७/५१-५२)

और कर्म कुछ अंश तक गौणरूपमें साधन हो सकते हैं, यह ठीक है, परन्तु वे मुख्य साधन कदापि नहीं हो सकते हैं।[६]

भक्ति ही अभिधेय है

कृष्णभक्ति हय अभिधेय-प्रधान।
भक्तिमुख—निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान॥
एइ सब साधनेर अति तुच्छ बल।
कृष्णभक्ति बिना ताहा दिते नारे फल॥
(चै. च. म. २२/१७-१८)

केवल ज्ञान 'मुक्ति' दिते नारे भक्ति बिना।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय ज्ञान बिना॥
(चै. च. म. २२/२१)

'कृष्ण-नित्यदास'—जीव, ताहा भुलि' गेल।
एइ दोषे माया तार गलाय बान्धिल॥
ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण॥
चारि वर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे।
स्वकर्म करिते से रौरवे पड़ि मजे॥[७]
(चै. च. म. २२/२४-२६)

ज्ञानी जीवन्मुक्तदशा पाइनु करि' माने।
वस्तुतः बुद्धि 'शुद्ध' नहे कृष्णभक्ति बिने॥
(चै. च. म. २२/२९)

---

[६] दानव्रततपो-होमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥
(श्रीमद्भा. १०/४७/२४)

[७] मुखबाहूरूपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥ (श्रीमद्भा. ११/५/२-३)

अर्थात् कृष्णभक्ति प्रधान अभिधेय है। कर्म, योग और ज्ञान आदि फल प्रदान करनेमें भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं। वे स्वतन्त्ररूपमें फल देनेमें असमर्थ हैं। भक्तिकी सहायताके बिना केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। वही मुक्ति भक्तिसाधकोंको बिना ज्ञानके अनायास ही मिल जाती है। जीव कृष्णका नित्य दास है; इस कृष्णदासत्वको भूलनेपर इस अपराधके लिए माया जीवोंको संसारबन्धनमें जकड़ लेती है। इसलिए जो सौभाग्यवान जीव गुरुदेवकी सेवा और कृष्णका भजन करते हैं, वे माया बन्धनसे छूटकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा पाकर कृतकृतार्थ हो जाते हैं। चारों वर्ण और आश्रमके लोग अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंका आचरण करनेपर भी यदि श्रीकृष्णका भजन नहीं करें, तो वे नरक भोग करेंगे। कृष्णभक्तिके बिना तो अपनेको जीवन्मुक्त माननेवालोंकी भी वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहीं होती।

भक्तिरहित कर्म, योग और ज्ञान निष्फल हैं

श्रीमन्महाप्रभुने कहा है कि कर्म, अष्टाङ्गयोग और ज्ञानको किन्हीं-किन्हीं शास्त्रोंमें साधन कहा गया है; इसलिए अल्प बुद्धिवाले व्यक्ति इन शास्त्रोंका तात्पर्य हृदयंगम न कर पानेके कारण उनको मुख्य अभिधेय या साधन मान बैठते हैं। अधिकार भेदसे मनुष्य अनेक प्रकारके हैं और प्रवृत्त-निवृत्त भेदसे वे दो प्रकारके हैं। उन अधिकारोंमें स्थित व्यक्ति उससे ऊपरके स्थानको प्राप्त करनेके लिए जो साधन करते हैं, वे साधन गौण मात्र हैं, मुख्य साधन या अभिधेय नहीं। उन साधनोंका फल केवल एक सोपान आगे बढ़ा देना मात्र है। अतएव बृहत् तत्त्वकी प्राप्तिमें उन साधनोंका स्थान अतीव तुच्छ या गौण है। कर्म, योग, ज्ञान और उन पथोंका उद्देश्य भक्ति न होनेसे उनमें स्वतन्त्ररूपसे कोई भी फल देनेकी शक्ति नहीं होती।[८] यदि उन-उन साधनोंका चरम उद्देश्य कृष्णभक्ति हो, तो वे कुछ-कुछ गौण

[८] षड़वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्त यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/२८)

फल प्रदान करते हैं। केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती। भक्तिके उद्देश्यसे जो सम्बन्धज्ञान होता है, उसका प्राथमिक फल ही मुक्ति है। भक्ति ही उस ज्ञानके भीतरसे अनायास ही गौण तथा क्षुद्र फलस्वरूप मुक्ति प्रदान करती है। कर्मके सम्बन्धमें यह विचार है कि चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके उपयोगी जिन कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान है, उनका ही नाम धर्म है। इसे त्रैवर्गिक धर्म कहा जा सकता है। इस ग्रन्थकी द्वितीय वृष्टिमें त्रैवर्गिक विषयका विवेचन किया जाएगा। उस विषयमें महाप्रभुजीका उपदेश है कि देह-यात्रा, संसार-यात्रा आदिका स्वच्छन्दतासे निर्वाह करते हुए प्रवृत्त पुरुष मुख्य वैध (भक्ति) साधनमें बल प्राप्त करते हैं। अतएव वर्णाश्रमधर्मको कृष्णभक्तिके उपयोगी बनाकर प्रतिपालन करनेके लिए अति प्रवृत्त पुरुषगण ही शुद्धभक्तिके अधिकारी हैं। परन्तु जो लोग भक्तिका आचरण न करके वर्णाश्रमधर्ममें अवस्थित हैं, वे वर्णाश्रमधर्मरूप स्वधर्मका साधन करके भी नरकगामी होते हैं।

इस ग्रन्थकी तृतीय वृष्टिमें साधनभक्तिका वर्णन है। वैध-साधन-भक्ति शुद्धभक्ति होनेपर प्रेम साधनके योग्य होती है।

प्रेम नित्यसिद्ध है

जीवका ईश्वरके प्रति जो प्रेम होता है, वही प्रेम जीवका स्वाभाविक नित्य धर्म है। वही वास्तविक साध्य वस्तु है। यहाँ यह वितर्क उठ सकता है कि यदि साध्य वस्तु नित्यसिद्ध है, तब वह किस प्रकार साध्य हो सकती है? श्रीमन्महाप्रभुजी इस विषयमें कहते हैं—

एवे साधनभक्ति-लक्षण शुन, सनातन।
जाहा हइते पाइ कृष्णप्रेम-महाधन॥
(चै. च. म. २२/१०१)

श्रवणादि-क्रिया—तार 'स्वरूप' लक्षण।
'तटस्थ'-लक्षणे उपजय प्रेमधन॥
नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम 'साध्य' कभु नय।
श्रवणादि-शुद्धचित्ते करये उदय॥
(चै. च. म. २२/१०३-१०४)

श्रीमन्महाप्रभुजीके इन वचनोंका तात्पर्य यह है कि प्रेम ही सिद्ध वस्तु है। जीवकी मायामोहित दशामें यह प्रेम तटस्थलक्षणमें पाया जाता है। उस समय वह अपने स्वरूपलक्षणमें उदित नहीं होता। कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णरूप और कृष्णकी लीलाकथाओंका श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण आदि कार्य ही साधनभक्तिका स्वरूपलक्षण है।[९] यह साधन करते-करते छिपी हुई आगकी भाँति प्रेम सबसे पहले तटस्थ रूपमें उदित होता है और अन्तमें लिङ्गशरीर छूट जानेपर अर्थात् वस्तुसिद्धिके समय स्वरूपलक्षणमें प्रकट होता है। अतएव कृष्णप्रेम सिद्धवस्तु है। यह किसी साधनसे पैदा नहीं होता, अपितु श्रवण आदि द्वारा शुद्ध चित्तमें उदित हो पड़ता है। इसीलिए साधनकी आवश्यकता स्पष्ट ही दीख पड़ती है।

यह साधनभक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधी साधनभक्ति और रागानुगा साधनभक्ति। महाप्रभुजी कहते हैं—

एइ त' साधनभक्ति—दुइ त' प्रकार।
एक 'वैधीभक्ति', 'रागानुगाभक्ति' आर॥
रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय।
'वैधीभक्ति' बलि' तारे सर्वशास्त्रे गाय॥
(चै. च. म. २२/१०५-१०६)

वैधीभक्ति

जिस समय बद्धजीवका कृष्णेतर विषयोंमें प्रगाढ़ अनुराग होता है, उस समय उसका कृष्णके प्रति अनुराग न के बराबर होता है। ऐसी दशामें कल्याणकामी जीव केवल शास्त्रकी आज्ञासे कृष्णका भजन करता है। यह भजन ही वैधभजन है। शास्त्रके शासन वाक्यको विधि मानकर जिन विधि-निषेधोंको देखकर जीव कार्य करते हैं, उसीसे

---

[९] श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥ (श्रीमद्भा. ७/५/२३-२४)

उनका प्राथमिक शुभ उदय होता है। यहाँ शास्त्र-वचनोंके प्रति श्रद्धा ही इसका प्रवर्त्तक है। वही श्रद्धा पहले कोमल, पीछे मध्यम और अन्तमें उत्तम होकर फल सिद्धि प्रदान करती है। जब वह श्रद्धा सत्सङ्गमें भजन द्वारा उत्तम होकर क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भावावस्थाको प्राप्त होती है, तब विधि भी एक चमत्कारपूर्ण आकार धारण कर लेती है। तब साधक यह जाननेमें समर्थ होता है कि एकमात्र कृष्ण ही सर्वदा स्मरणीय हैं और उनको भूलना कदापि उचित नहीं है। समस्त प्रकारके विधि-निषेध इन्हीं दोनों मूल विधि-निषेधके किङ्कर हैं।[१०] उस समय साधक भक्तिके साधनमें विधि-निषेधोंके प्रति नियमाग्रहको छोड़कर अपने अधिकारके अनुसार किसी-किसी विधिका परित्याग करता है और किसी-किसी निषेधको ग्रहण करता जाता है।[११]

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने **साधनभक्तिके चौसठ प्रकारके अङ्गोंका** उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) गुरुपदाश्रय, (२) गुरुके निकट कृष्णदीक्षा और शिक्षा, (३) विश्वासपूर्वक गुरु सेवा, (४) साधुमार्गका अनुसरण, (५) सद्धर्मकी जिज्ञासा, (६) श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अपने भोग-विलासका त्याग, (७) कृष्णसम्बन्धी तीर्थोंमें निवास, (८) जीवन-निर्वाहोपयोगी यथायोग्य अर्थ या विषय स्वीकार, (९) एकादशी, जन्माष्टमी आदि हरिवासरका सम्मान (१०) आँवला, पीपल आदि वृक्षोंको गौरव प्रदान और गो-ब्राह्मण-वैष्णव पूजन, (११) कृष्ण बहिर्मुख व्यक्तियोंका सङ्गत्याग, (१२) अनधिकारीको शिष्य न करना, (१३) आड़म्बरपूर्ण उद्यमोंका (विराट महोत्सव आदिका) परित्याग, (१४) अनेकानेक ग्रन्थोंका पठन-पाठन और व्याख्यावादका परित्याग, (१५) हानि और लाभमें

---

[१०] स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु र्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥ (पद्मपुराण)

[११] स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
कर्मणा जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः।
गुणदोष-विधानेन संगानां त्यजनेच्छया॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/२६)

समभाव रहना, (१६) शोक आदिके वशीभूत न होना, (१७) अन्य देवता और अन्य शास्त्रकी निन्दा नहीं करना, (१८) सेवा-नामापराधादिका वर्जन और विष्णु तथा वैष्णवोंकी निन्दा नहीं करना, (१९) ग्राम्य चर्चा नहीं करना या नहीं सुनना, (२०) प्राणीमात्रको मन और वचनसे भी उद्वेग नहीं देना, (२१) श्रवण, (२२) कीर्त्तन, (२३) स्मरण, (२४) पूजन, (२५) वन्दन, (२६) परिचर्या, (२७) दास्य, (२८) सख्य, (२९) आत्म-निवेदन, (३०) श्रीविग्रहके सामने नृत्य, (३१) गीत, (३२) विज्ञप्ति अर्थात् दीनतापूर्वक प्रार्थना, (३३) श्रीगुरु, वैष्णव और भगवान्‌को दण्डवत्प्रणाम, (३४) उन्हें दर्शनकर आसनसे उठकर अभिवादन, (३५) अनुव्रज्या अर्थात् उनका अनुगमन करना, (३६) तीर्थों और श्रीमन्दिरोंमें गमन करना, (३७) उनकी परिक्रमा करना, (३८) स्तवादि और भक्तिग्रन्थोंका पाठ, (३९) जप, (४०) संकीर्त्तन, (४१) प्रसादी धूप और माला आदिका गन्ध ग्रहण, (४२) महाप्रसाद सेवन, (४३) आरती महोत्सवादि करना और दर्शन करना, (४४) श्रीमूर्त्तिका दर्शन, (४५) अपनी प्रिय वस्तुका अर्पण, (४६) ध्यान, (४७) तदीयका सेवन,[१२] (४८) भगवान्‌के चरणोंमें शरणागति, (४९) तुलसीकी सेवा, (५०) वैष्णवकी सेवा, (५१) मथुराकी सेवा, (५२) भागवतकी सेवा, (५३) कृष्णकी प्रसन्नताके लिए अखिल चेष्टा, (५४) तत्कृपावलोकन, (५५) भगवान्‌के जन्मके दिन भक्तोंके साथ महोत्सव करना, (५६) वैष्णवचिह्न धारण, (५७) हरिनामाक्षर धारण, (५८) निर्माल्य धारण और चरणामृत ग्रहण, (५९) चातुर्मास्य-व्रत और विशेषरूपसे कार्त्तिक-व्रतका पालन,[१३] (६०) श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्त्तिकी पूजा, (६१) रसिक भक्तोंके साथ श्रीमद्भागवतका अर्थ आस्वादन, (६२) स्वजातीय आशय स्निग्ध अपनेसे श्रेष्ठ रसिक वैष्णव-सन्तोंका सङ्ग, (६३) श्रीनामसंकीर्त्तन और (६४) मथुरा, वृन्दावन आदि भगवान्‌के धाममें वास। अन्तिम पाँच अङ्ग उक्त चौसठ अङ्गोंमें श्रेष्ठ

---

[१२] लीलाके समस्त उपकरण ही तदीय हैं; जैसे—वृन्दावनके समस्त उद्दीपक और सङ्गीगण तथा नवद्वीपके मृदङ्ग, करताल आदि उपकरण। इन सबका सम्मान और आदर करना चाहिए।

[१३] (क) कार्त्तिक (ख) माध-स्नान (ग) वैशाख-व्रत।

अङ्ग माने गए हैं। निरपराध रहकर स्वल्प मात्रामें भी इन पाँच अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे कृष्णप्रेमकी प्राप्ति होती है।

श्रेणी-विभाग

इन चौसठ अङ्गोंमें श्रवण-कीर्त्तन आदि नौ प्रधान साधनाङ्ग हैं और दूसरे सभी अङ्ग उनके अङ्गीभूत हैं। प्रथम दस अङ्ग भक्तिके प्रवेशद्वारस्वरूप है। उसके पश्चात् दस अङ्ग भक्तिके प्रतिकूल निषेध और अनुकूल ग्रहणरूपसे पालनीय हैं। इनमेंसे धात्री, अश्वत्थ, गो, विप्र, आदि सम्बन्धी कार्य समाजनिष्ठ कर्त्तव्य विशेष हैं, जो प्रारम्भिक अवस्थामें भक्तिके अनुकूल हैं। साधनकी परिपक्वताकी मात्राके अनुसार इन चौसठ अङ्गोंमेंसे अन्तिम पाँच अङ्ग ही विशेष रूपसे पालनीय होते जाते हैं।

साधनका रहस्य

भक्तिसाधनमें एक रहस्य है। भगवत्-सम्बन्धी ज्ञान, भक्ति और इतर विषयोंमें वैराग्य—ये तीनों एक ही साथ समान मात्रामें बढ़ते जाते हैं।[१४] जहाँ इस नियमका व्यतिक्रम देखा जाए, वहाँ यह जानना होगा कि अवश्य ही साधनके मूलमें कुछ दोष हैं।[१५] सर्वत्र ही साधुसङ्ग और गुरुकृपाके बिना विपथमें गिरनेसे बचना असम्भव है। श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—

एक अङ्ग साधे केह साधे बहु अङ्ग।
निष्ठा हइते उपजय प्रेमेर तरङ्ग॥

---

[१४] भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक् एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युतुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासम्॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४२)

[१५] देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११/५/४१)

अर्थात् कोई-कोई एक अङ्गका साधन करते हैं और कोई-कोई अनेक अङ्गोंका साधन करते हैं। दोनों ही अवस्थाओंमें निष्ठासे भजनसाधन करनेवालोंको प्रेमकी सिद्धि होती है।

एक-एक अङ्गका साधन करनेवाले साधकोंमें श्रीमन्महाप्रभुजीने परीक्षित् (श्रवण), शुकदेव (कीर्त्तन), प्रह्लाद (स्मरण), लक्ष्मी (पादसेवन), पृथु महाराज (अर्चन), अक्रूर (वन्दन), हनुमान (दास्य), अर्जुन (सख्य), और बलि महाराज (आत्मनिवेदन) आदिके उदाहरण दिए हैं। अनेक अङ्गोंके साधकोंमें अम्बरीष महाराजका उदाहरण दिया गया है।

पारमहंस्य अवैध नहीं है

साधन कालमें जब तक साधकके हृदयमें भोग आदिकी कामनाएँ रहती हैं, तब तक वर्णाश्रम आदि धर्मकी अपेक्षा रहती है। जो लोग सब प्रकारकी कामनाओंका सर्वथा परित्याग करके शास्त्र-विधियोंके अनुसार साधनमें तत्पर हो जाते हैं, वे तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाते हैं।[१६]

काम त्यजि' कृष्ण भजे शास्त्र-आज्ञा मानि'।
देव-ऋषि-पितृदिगेर कभु नहे ऋणी॥
(चै. च. म. २२/१३६)

निष्काम साधन उपस्थित होनेपर वैधधर्म छूट जाते हैं। फिर भी निषिद्धाचारमें मति नहीं होती। शुद्ध साधनभक्तके लिए कभी भी पापाचरण सम्भव नहीं हैं। यदि अकस्मात् अनजानमें पाप कार्य हो भी जाए, तो कर्म-प्रायश्चित आवश्यक नहीं होता।[१७]

---

[१६] देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११/५/४१)

[१७] स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥
(श्रीमद्भा. ११/५/४१-४२)

ज्ञान और वैराग्यादि—भक्तिके सोपान या अङ्ग नहीं हैं

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि पहले ज्ञान और वैराग्य प्राप्त करनेके उपरान्त भक्तिका साधन करना उचित है। परन्तु यह उनकी भूल है। श्रीमन्महाप्रभुजीका कथन है कि ज्ञान और वैराग्य आदि भक्तिके अङ्ग नहीं है—

ज्ञान-वैराग्यादि—भक्तिर कभु नहे 'अङ्ग'।
(चै. च. म. २२/१४१)

भक्ति एक स्वतन्त्र वृत्ति है, ज्ञान और वैराग्यादिकी क्रिया प्रायः भक्तिदेवीके दासके रूपमें दूर-दूरमें ही होती है।[१८] अहिंसा, यम, नियम आदि धर्म भक्तिके स्वाभाविक सङ्गी हैं। उनके लिए पृथक् शिक्षा आदिके प्रयासकी आवश्यकता नहीं होती।

रागानुगाभक्ति

श्रीचैतन्य महाप्रभुजी कहते हैं—

वैधीभक्ति-साधनेर कहिलुँ विवरण।
रागानुगा-भक्तिर लक्षण शुन, सनातन॥
रागात्मिका-भक्ति-'मुख्या' व्रजवासीजने।
तार अनुगत भक्तिर 'रागानुगा'-नामे॥
(चै. च. म. २२/१४४-१४५)

इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'—रागेर स्वरूप-लक्षण।
इष्टे 'आविष्टता'—तटस्थ-लक्षण कथन॥
रागमयी भक्तिर हय 'रागात्मिका' नाम।
ताहा शुनि' लुब्ध हय कोन भाग्यवान्॥
लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने—रागानुगार प्रकृति॥
(चै. च. म. २२/१४७-१४९)

---

[१८] तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
(श्रीमद्भा. ११/२०/३१)

बाह्य, अन्तर,—इहार दुइ त' साधन।
'बाह्ये' साधकदेहे करे श्रवण-कीर्त्तन॥
'मने' निज-सिद्धदेह करिया भावन।
रात्रि-दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥
(चै. च. म. २२/१५२-१५३)

निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ पाछे त' लागिया।
निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हञा॥
(चै॰च॰मध्य॰ २२/१५५)

दास-सखा-पित्रादि-प्रेयसीर गण।
रागमार्गे निज-निज-भावेर गणन॥
(चै. च. म. २२/१५७)

एइमत करे जेबा रागानुगा-भक्ति।
कृष्णेर चरणे ताँर उपजय 'प्रीति'॥
प्रीत्यंकुरे 'रति', 'भाव'—हय—दुइ नाम।
जाहा हइते वश हन श्रीभगवान्॥
(चै. च. म. २२/१६०-१६१)

एइ त कहिल अभिधेय विवरण॥
(चै. च. म. २२/१६२)

अर्थात् सनातन! वैधीभक्तिके साधनके विषयमें मैंने तुम्हें बतलाया; अब रागानुगाभक्तिका लक्षण सुनो। श्रीदाम-वसुदाम, श्रीनन्द-यशोदा और ललिता-विशाखा आदि व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णके प्रति रागात्मिका-भक्ति होती है। और उन व्रजवासियोंके भावोंके अनुगत रहकर जो साधनभक्तिकी जाती है, उसे रागानुगाभक्ति कहते हैं। इष्ट वस्तु श्रीनन्दनन्दनके प्रति प्रगाढ़ तृष्णा रागका स्वरूपलक्षण है तथा उनमें गाढ़ी आसक्ति-रागका तटस्थलक्षण है। ऐसी रागमयी भक्तिको रागात्मिकाभक्ति कहते हैं। इस रागात्मिकाभक्तिके विषयमें श्रवणकर किसी विरले सौभाग्यवान साधकके हृदयमें उसे प्राप्त करनेका लोभ पैदा होता है और तब वह व्रजवासियोंके भावोंका अनुगमन करने लगता है।

रागानुगा साधकोंका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वे शास्त्रीय युक्ति-तर्कोंकी अपेक्षा नहीं रखते। इस भक्तिके दो प्रकारके साधन होते हैं—बाह्य साधन और आभ्यन्तर साधन। बाह्य रूपमें साधक शरीरसे श्रवण और कीर्त्तन करना—'बाह्य साधन' है। मन-ही-मन सिद्धदेहकी भावना द्वारा दिन-रात व्रजमें अवस्थित रहकर श्रीकृष्णकी और श्रीकृष्णके प्रिय परिकरोंकी (अपने भावोंके अनुकूल) मानसिक सेवाको 'अभ्यन्तर साधन' कहते हैं। रागानुगाभक्ति साधकोंको दोनों प्रकारका साधन करना चाहिए। दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार—चारों प्रकारकी रागानुगाभक्तिके साधक ऐसी साधनाके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रीति लाभ करते हैं। ऐसे साधकोंमें पहले प्रीतिका अंकुर, भाव या रति, और अन्तमें प्रेमका उदय होता है। श्रीकृष्ण इसी प्रेमके वशीभूत हो पड़ते हैं। यह अभिधेयतत्त्व जिसे मैंने तुम्हें बतलाया, अत्यन्त रहस्यपूर्ण और दुर्लभ है।

वैधी-साधनभक्ति और रागानुगा-साधनभक्तिका प्रभेद बतलाकर श्रीमन्महाप्रभुजीने अभिधेय साधनतत्त्वकी समाप्ति की है। चतुर्थ वृष्टिमें रागानुगातत्त्वका विचार परिष्कृत रूपसे किया गया है।

क्रम पथ ही कल्याणप्रद है

कुछ अपक्व सिद्धान्तवाले व्यक्तियोंका यह कहना कि भक्तिमें साधनकी आवश्यकता नहीं है प्रमाणिक करता है कि उन लोगोंको या तो वर्णाश्रमधर्म जीवन अच्छा लगता है अथवा सम्पूर्ण रूपसे प्रेमभक्तिका कृत्रिम लक्षण। हम भक्ति सम्बन्धी उपदेशोंमें ऐसा देखते हैं कि क्रम-सोपन ही सुगम और फलप्रद है। सर्वप्रथम धर्म-जीवनमें वर्णाश्रमके प्रति निष्ठा आवश्यक है, पीछे क्रमोन्नति द्वारा वैधभक्त-जीवन ही उपस्थित होगा और अन्तमें प्रेमभक्ति होनेपर जीवनकी सम्पूर्णता होगी।[१९] अधिकारमें उन्नति होनेपर आकारमें कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन अवश्य ही होता है।

---

[१९] सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनक्रमिष्यति॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/२५)

कर्म आत्माका धर्म नहीं है

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि इस क्रमका अवलम्बन करनेसे मनुष्य जीवनमें अवनति होती है। कृषक, सौदागर, राजकर्मचारी, कायस्थ तथा धर्म व्यवसायी ब्राह्मण—ये क्रमशः उन्नत होकर अन्तमें ब्राह्मणत्वको तथा चरमावस्थामें संन्यासके साथ ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं, यह केवल आत्मवञ्चना मात्र है।[२०] उक्त धर्म-जीवन केवल पार्थिव उन्नतिकी कल्पना करता है। वह प्रतिज्ञा करके भी आत्माकी उन्नति नहीं कर पाता है। ऐसे पार्थिव जीवनका अतिक्रमकर पारमार्थिक जीवनको सहज ही प्राप्त करनेके लिए ही श्रीमन्महाप्रभुजीके उपदेश हैं।

साधनभक्तिसे ही आत्मोन्नति होती है

वर्णाश्रमधर्म पालनसे देहमात्रका सहज ही निर्वाह होता है। योग आदिसे मानसिक उन्नति होती है; किन्तु साधनभक्तिसे आत्मोन्नति होती है। यदि कोई साधक एक पक्का कृषक, सुदक्ष व्यापारी या चतुर योद्धा न भी हो, तो भी वह अपने अधिकारसे अच्युत मानव-जीवनके कौशलमें परिपक्व हो सकता है। जिस प्रकार एक चतुर राजमन्त्री बन्दूक और तोप आदि चलानेके कार्यमें भले ही विशेष दक्ष न हो, तथापि सभी योद्धाओंके लिए वही युद्धादिकी व्यवस्था करता है, उसी प्रकार जो लोग साधकभक्तकी सर्वत्र ही उच्चता देख पाते हैं, वे ही वास्तवमें बुद्धिमान हैं। वे अवश्य ही भगवान्‌की कृपा प्राप्त कर चुके हैं।[२१]

---

[२०] मतिर्न कृष्णे परताः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥
(श्रीमद्भा. ७/५/३०)

[२१] यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥
(श्रीमद्भा. ४/२९/४६)

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहाम्भरवार्त्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थांश्च लोके॥
(श्रीमद्भा. ५/५/३)

सप्तम धारा

प्रयोजनतत्त्व

भक्तिसाधनसे क्रमशः अनर्थ दूर होनेपर श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़ रति उदित होती है। यही रति या भाव पूर्ण विकसित अवस्थामें प्रेम कहलाता है। यही प्रेम जीवमात्रका चरम प्रयोजन है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी सनातन गोस्वामीको उपदेश दे रहे हैं—

"एबे शुन भक्तिफल 'प्रेम' प्रयोजन।
याहार श्रवणे हय भक्तिरस-ज्ञान॥
कृष्णे रति गाढ़ हैले 'प्रेम'-अभिधान।
कृष्णभक्ति-रसेर सेई 'स्थायीभाव'-नाम॥
(चै. च. म. २३/३-४)

अर्थात् भक्तिको सबसे पहले साधन अवस्थामें भक्ति कहा जाता है; तत्पश्चात् साधनका फल प्रकाशित होनेपर वही भावावस्थाको प्राप्त होती है तथा वही भक्ति अपनी पूर्ण विकसित अवस्थामें प्रेमरूप धारण करती है। साधन अवस्थामें भक्ति—भाव, रति या प्रेमांकुर तकका रूप धारण कर सकती है।[१] वैधी और रागानुगासाधनोंमें अन्तर यह है कि वैधीभक्ति कुछ विलम्बसे भावावस्थाको प्राप्त होती है। रागानुगाभक्ति बहुत थोड़े समयमें ही भावावस्थाको प्राप्त करती है[२]। रागानुगाभक्तोंके हृदयमें निष्ठाको क्रोड़ीभूत करके श्रद्धा रुचिके

---

(१) परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृतिर्मिथ आत्मनः॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥ (श्रीमद्भा. ११/३/३०-३१)

(२) शृण्वतां गृण्वतां वीर्याण्युद्दामनि हरेर्मुहुः।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्धयेन्नात्मर व्रतादिभिः॥ (श्रीमद्भा. ६/३/३२)

रूपमें उदित होती है। अतएव रागानुगाभक्तिमें श्रद्धाको भाव बननेमें देर नहीं लगती।[३]

भावका लक्षण

साधकके हृदयमें जिस समय भावका उदय होता है, उस समय निम्नलिखित लक्षण देखे जाते हैं। श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—

एइ नव प्रीत्यंकुर याँर चित्ते हय।[४]
प्राकृत-क्षोभे ताँर क्षोभ नाहि हय॥
(चै. च. म. २३/२०)

कृष्णसम्बन्ध बिना काल व्यर्थ नाहि जाय।
भुक्ति, सिद्धि, इन्द्रियार्थ ताँरे नाहि भाय॥
(चै. च. म. २३/२२)

'सर्वोत्तम' आपनाके 'हीन' करि' माने।
'कृष्ण कृपा करिबेन'-दृढ़ करि' माने॥
(चै. च. म. २३/२५)

समुत्कण्ठा हय सदा लालसा-प्रधान।
नाम गाने सदा रुचि, लय कृष्ण नाम॥
(चै. च. म. २३/२८)

कृष्ण गुणाख्याने करे सर्वदा आसक्ति।
कृष्णलीला-स्थाने करे सर्वदा वसति॥
(चै. च. म. २३/३१)

---

[३] केवलेन हि भावेन गोप्या गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढ़धियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/८-९)

[४] क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(श्रीमद्भा. ११/३/३२)

जिसके हृदयमें प्रीति-अंकुर—रति या भाव उदित होता है, उसका अन्तःकरण प्राकृत कारणोंसे क्षुब्ध नहीं होता, कृष्णके सम्बन्धके बिना उसका समय व्यर्थ नहीं जाता, भोग, मोक्ष और सिद्धियाँ आदि उसे अच्छी नहीं लगतीं, स्वयं सर्वोत्तम गुणी होनेपर भी अपनेको दीन-हीन मानता है, कृष्ण मुझपर अवश्य कृपा करेंगे—उसे ऐसा दृढ़ विश्वास रहता है, कृष्ण कब मिलेंगे—ऐसी उसमें उत्कण्ठा बनी रहती है, श्रीनाम-संकीर्त्तनमें सर्वदा रुचि रहती है, श्रीकृष्णके गुणानुवादमें सर्वदा आसक्ति बनी रहती है तथा वह कृष्णलीलास्थलियोंमें निवास करता है।

प्रेमका लक्षण

पञ्चम वृष्टिकी आलोचनामें श्रीमन्महाप्रभुके इन उपदेशोंकी विस्तृत व्याख्या पाई जाएगी। प्रेमलक्षण अतिशय दुर्लभ है। इस सम्बन्धमें श्रीमन्महाप्रभुजीके वचन हैं—

कृष्णेर रतिर चिह्न एइ कैलूँ विवरण।
कृष्णप्रेमेर चिह्न एबे शुन, सनातन॥
याँर चित्ते कृष्णप्रेमा करये उदय।
ताँर वाक्य, क्रिया, मुद्रा विज्ञे ना बुझय॥
(चै. च. म. २३/३४-३५)

मैंने पहले कृष्णरतिका लक्षण बतलाया है, अब कृष्णप्रेमका लक्षण श्रवण करो। यह प्रेम जिसके चित्तमें उदित हो जाता है, उसके वचन, उसकी क्रियाएँ और भाव-भङ्गिमाओंको विज्ञजन भी समझ नहीं पाते।

प्रेम पाँच प्रकारका होता है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। मधुरप्रेम और मधुररस सबसे श्रेष्ठ है। मधुररसमें कृष्ण-माधुर्य चरमसीमा तक पहुँच जाता है।[५] मधुररसमें स्थित भक्त प्रेमकी

---

[५] नृणां निःश्रेयसार्था व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ (श्रीमद्भा. १०/२९/१४-१५)

पराकाष्ठाको प्राप्त हुए होते हैं।[६] व्रजके मधुररसमें सम्पूर्ण चौसठ गुणोंका चरम प्रकाश कृष्णमें लक्षित होता है। उसी प्रकार व्रजरसके रसिक भक्तोंमें भी अनन्त माधुर्य प्रकाशित हो पड़ता है। श्रीमन्महाप्रभुजीने भक्तोंमें चूड़ामणिस्वरूप श्रीमती राधिकाके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है—

अनन्त गुण श्रीराधिकार, पचीश-प्रधान।
जेइ गुणेर 'वश' हय कृष्ण भगवान्॥
(चै. च. म. २३/८१)

मधुररस आस्वाद्य है, विचारणीय नहीं

जो परम सौभाग्यवश मधुररसके अधिकारी हो गए हैं, केवल वे ही इस रसका आस्वादन कर पाते हैं।[७] युक्ति और विचार आदिके द्वारा इसे किसीको भी समझाया नहीं जा सकता। अतएव श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

एइ रस आस्वाद नाहि अभक्तेर गणे।
कृष्णभक्तगण करे रस आस्वादने॥
(चै. च. म. २३/९३)

इन उपदेशोंके पश्चात् श्रीमन्महाप्रभुजीने सनातन गोस्वामीको अन्तमें प्रेम-प्राप्तिके प्रतिकूल शुष्क वैराग्यको छोड़ने और प्रेम-प्राप्तिके अनुकूल युक्तवैराग्यको ग्रहण करनेके लिए उपदेश दिया है—

युक्तवैराग्यस्थिति सब शिखाइल।
शुष्कवैराग्य-ज्ञान सब निषेधिल॥
(चै. च. म. २३/९९)

---

[६] मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
(श्रीमद्भा. ९/४/६६)

[७] स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥
(श्रीमद्भा. ४/२९/५१)

फल्गुवैराग्य

युक्ति और युक्तिके अनुकूल वेद-वाक्योंके लक्षणा-अर्थके द्वारा कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि "मैं ब्रह्म हूँ, किन्तु प्रपञ्चमें फँस जानेके कारण ब्रह्म अनुभवसे दूर हो पड़ा हूँ"। प्रपञ्चसे मुक्त होनेका उपाय क्या है? मनुष्यशरीर प्रपञ्च है, गृह भी प्रपञ्च है, स्त्री-पुत्र भी प्रपञ्च है, आहार आदि सब कुछ प्रपञ्च ही है। इस प्रपञ्चसे किस प्रकार छुटकारा मिले? इस भावनासे व्यस्त होकर शरीरमें भस्म रमाकर कौपीन आदि द्वारा उसे ढक लेते हैं, सूखे चने आदि चबाकर, स्त्री-पुत्र आदिका परित्यागकर अपनेको त्यागी कहलवानेके लिए गृह त्याग करके वनमें विचरण करते हैं या मठमें वास करते हैं। ऐसा करनेसे लाभ क्या होगा—इसपर भलीभाँति विचार किए बिना ही केवलमात्र शुष्क ज्ञान मात्राकी भावना करते हैं। परन्तु हरि सम्बन्धसे ही प्रपञ्चसे छुटकारा मिल सकता है—इस विषयसे सर्वथा उदासीन रहते हैं। पाप भी गया, पुण्य भी गया, मैं और मेरा सभी कुछ चला गया; परन्तु लाभ क्या हुआ? इसपर तनिक भी विचार नहीं किया। वेदान्तके अधिकरणोंके साथ अपना समय बिताने लगे। मृत्यु हुई, उनके मतके दो-चार लोग उपस्थित हुए तथा उनके मस्तकपर नारियल तोड़कर भूमिपर रख दिया। परन्तु इससे हुआ क्या? हरि तो मिले नहीं। उनका ब्रह्म होना वहीं तक रहा। ऐसा न कर यदि वे देहमें, गृहमें, भोजनमें, शयनमें, कालमें और दिशाओंमें हरिसम्बन्ध स्थापनकर भगवदनुशीलन करते-करते भक्तिकी वृद्धि करते, तो प्रेमरूपी चरम फलको अवश्य ही प्राप्त करते।[८] ऐसे वैराग्यका नाम फल्गुवैराग्य है। श्रीमन्महाप्रभुजीने

[८] जाताश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ़निश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुखोर्दर्कांश्च गृर्हयन्॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुने।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥(श्रीमद्भा. ११/२०/२७-३०)

ऐसे वैराग्यका निषेध करके श्रीसनातनजीको युक्तवैराग्यकी शिक्षा दी है। श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको भी उन्होंने युक्तवैराग्यकी ही शिक्षा दी है—

"स्थिर हइया घरे जाह, ना हओ बातुल।
क्रमे क्रमे पाय लोक भवसिन्धुकूल॥
मर्कट-वैराग्य ना कर लोक देखाइया।
यथायोग्य विषय भुञ्ज' अनासक्त हइया॥
अन्तरे निष्ठा कर, बाह्ये लोकव्यवहार।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिबेन उद्धार॥
(चै. च. म. १६/२३७-२३९)

अर्थात् जब श्रीरघुनाथदास बचपनमें प्रथम बार घरसे भागकर श्रीमन्महाप्रभुके समीप आए तथा उनके साथ ही रहनेकी इच्छा प्रकट की, तब श्रीमन्महाप्रभुने बड़े प्यारसे उनके मस्तकपर अपना करकमल फेरते हुए कहा—रघुनाथ! अभी चित्तको स्थिरकर घर लौट जाओ। चञ्चलता मत करो। घरपर रहकर ही भक्तिका साधन करो। ऐसा करनेसे क्रमशः भवसागरको पार किया जा सकता है। याद रखो, लोगोंको दिखलाकर मर्कटवैराग्य (बन्दरसा दिखावटी वैराग्य) करनेकी आवश्यकता नहीं, उससे कुछ भी लाभ नहीं; भजनके अनुकूल जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यकतानुसार यथायोग्य विषयोंको अनासक्त होकर भोगो; साथ ही भीतर-ही-भीतर निष्ठा रखो तथा बाहरमें लोक-व्यवहार करते रहो। ऐसा करनेसे कुछ ही दिनोंमें करुणासागर श्रीकृष्ण तुम्हारा उद्धार कर देंगे।

युक्तवैराग्य

स्वच्छन्दरूपमें जीविका निर्वाह करनेके लिए घरमें स्त्री-पुत्रके साथ अनासक्त होकर विषयोंको स्वीकार करते हुए आन्तरिक निष्ठाके साथ भजन करनेसे धीरे-धीरे प्रपञ्च दूर हो जाता है, उस समय आत्मा भक्तिके बलसे बलवान होकर भगवत्-सम्बन्धमें स्थित हो जाती है।[९]

[९] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

यदि इस क्रम-पथको छोड़कर कोई अकस्मात् मर्कटवैराग्यका अवलम्बनकर वैरागी बन जाए, तो उसकी उन्नति कदापि नहीं होती, बल्कि वह धीरे-धीरे परमार्थके पथसे सदाके लिए दूर हो जाता है। "यथायोग्य विषयको स्वीकार करो"—इस आज्ञाका तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय-प्रीतिके लिए विषयोंको ग्रहण नहीं करना चाहिए, बल्कि कृष्णके साथ आत्माका सम्बन्ध स्थापन करनेके लिए जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही मात्रामें विषयोंको ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार कुछ ही दिनोंमें आत्म-प्रसादरूप फलको प्रदानकर विषय स्वयं ही प्रपञ्चातीत आत्माको छोड़ देंगे। घर-बार, शरीर, पुत्र-परिवार तथा समाज आदिको कृष्णसम्बन्धी जाननेसे वे सभी युक्तवैराग्यके उपकरण हो सकते हैं। अन्तर-निष्ठा होनेसे ऐसा सहज ही सम्भव होता है। बाह्य-निष्ठा केवल लोक व्यवहारके लिए होनी चाहिए। निष्कपट रूपमें अन्तर-निष्ठा होनेपर भवबन्धन और प्रपञ्चसम्बन्ध—ये दोनों शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। भक्ति जिस अनुपातमें शुद्धरूपमें उदित होगी, उसी अनुपातमें शुद्ध ज्ञान और शुद्ध वैराग्य भी उदित होंगे।

सरल भक्त-जीवनमें केवल कृष्णनामाश्रय ही सर्वोत्तम साधन है।[१०] श्रीमन्महाप्रभुजी सनातन गोस्वामीको इस विषयमें शिक्षा देते हैं—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
'कृष्णप्रेम', 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति॥
तारमध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्त्तन।
निरपराधे नाम लइले पाय प्रेमधन॥"

(चै. च. अ. ४/७०-७१)

---

[९] धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत जावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यच्चेह कर्मभिः॥

(श्रीमद्भा. १/२/९-१०)

[१०] एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥

(श्रीमद्भा. २/१/११)

और भी कहते हैं–

कुबुद्धि छाड़िया कर श्रवण-कीर्त्तन।
अचिराते पाबे तबे कृष्णप्रेम-धन॥
नीचजाति नहे कृष्णभजने अयोग्य।[११]
सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य॥
जेइ भजे, सेइ बड़, अभक्त—हीन छार।
कृष्णभजने नाहि जाति-कुलादि-विचार॥
दीनेरे अधिक दया करे भगवान्।
कुलीन, पण्डित, धनीर बड़ अभिमान॥
(चै. च. अ. ४/६५-६८)

भगवद्भजनके जितने अङ्ग हैं, उन सभीमें नौ अङ्ग प्रधान हैं। वे नौ अङ्ग हैं—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। नवधाभक्तिके नौ अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गका आचरण करनेसे भी कृष्णप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु उन नौ अङ्गोंमें श्रीनामका संकीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ है। यदि निरपराध होकर हरिनामका कीर्त्तन किया जाए, तो अल्प समयमें ही श्रीनाम प्रभु कृपापूर्वक प्रेमधनको प्रदान करते हैं। अतएव कुबुद्धि अर्थात् अन्याभिलाष, ज्ञान, कर्म आदिका सर्वतोभावेन परित्यागकर शुद्ध रूपसे अर्थात् शुद्धभक्तोंके आनुगत्यमें हरिनामका श्रवण और कीर्त्तन करनेसे शीघ्र ही प्रेमधनकी प्राप्ति होती है। कृष्णभजनमें जीवमात्रका अधिकार है। उसमें छोटे-बड़े, ऊँच-नीचका कोई भी भेद नहीं होता। न नीच जातिमें उत्पन्न व्यक्ति कृष्णभजनके लिए अयोग्य है और न सत्कुलमें उत्पन्न विप्र कृष्णभजनके लिए योग्य है। बल्कि जो भजन करता है, वही श्रेष्ठ है, चाहे उसका जन्म किसी भी कुलमें क्यों न हुआ हो तथा उच्च वंशमें उत्पन्न विप्र भी यदि भजन नहीं करता, तो वह सबसे हीन और घृणित है। कुलीन, पण्डित और धनियोंको

---

[११] धिक् जन्म नास्त्रिवृद्विद्यां धिगव्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥
(श्रीमद्भा. १०/२३/४०)

बड़ा अभिमान होता है। दीन व्यक्तियोंमें स्वाभाविक रूपमें नम्रता होती है, इसलिए उनपर भगवान् अधिक दया करते हैं।

वर्णाश्रममें हरिभजनकी प्रणाली

श्रीमन्महाप्रभुके वचनोंका सारार्थ यह है कि जबसे भगवत् विषयमें श्रद्धा हो जाए, तभीसे सत्सङ्गमें रहकर हरिनाम ग्रहण करें। कर्म और ज्ञानकी चेष्टाओं द्वारा कदापि अपने चित्तको चञ्चल न करे। संख्यापूर्वक 'हरेकृष्ण' आदि सोलह नामोंका निरन्तर कीर्त्तन करनेका प्रयत्न करे। शरीर, गृह और समाजको श्रीनाम अनुशीलनके अनुकूल करके आवश्यक पदार्थोंका संग्रह और उनकी रक्षा आदिके लिए जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही चेष्टा करे और जो कुछ भी करे कृष्णको अर्पण करके ही किया जाए तथा उन-उन विषयोंमें अधिक प्रयास नहीं करें। इन्द्रिय-प्रिय भोज्य पदार्थोंका तथा अन्यान्य विषयोंका व्यवहार भी नहीं किया जाए। जीवका शुद्धज्ञान और अनुकूल रागादि इन्द्रियाँ तथा मन आदि अन्तरेन्द्रियाँ कहीं नष्ट या विकृत न हो जाएँ, इस बातको ध्यानमें रखकर प्राणवृत्तिरूप परिमित सात्त्विक आहार द्वारा देहकी रक्षा करनी चाहिए।[१२] जीवन-निर्वाहके लिए न तो अधिक चेष्टा करनी पड़े और न वह अधिक कष्टसाध्य हो, ऐसे निर्जन स्थानमें रहना चाहिए। ऐसे समाजमें रहे, जो कृष्ण भक्तिके प्रतिकूल न हो तथा उस समाजकी उन्नतिके लिए प्रयत्न किया जाए। ऐसा करनेका तात्पर्य यह है कि ऐसे कार्योंसे निश्चिन्त

---

[१२] प्राणावृत्या तु सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ् मनः॥
(श्रीमद्भा. ११/७/३९)
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसञ्चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचिः॥
वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्त्रिकेतन्तु निर्गुणम्॥
(श्रीमद्भा. १२/२५/२८, २५)

होकर निर्जनमें दृढ़ यत्नके साथ भजन किया जा सकता है।[१३] स्त्रीसङ्ग और स्त्रीसङ्गीका सङ्ग सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। अभक्तोंका सङ्ग न हो जाए—इस विषयमें सर्वदा सावधान रहना होगा।[१४] दूसरोंकी निन्दा अथवा परचर्चाका सर्वतोभावेन परित्याग करें। कपटतासे दूर रहें तथा अपनेको अत्यन्त दीन हीन समझें। तितिक्षापूर्ण हृदयसे समस्त विषयोंको सहकर जगतका यथार्थ उपकार किया जाए। अपने वर्ण, धन, जन, रूप, बल, पार्थिव विद्या और पद आदिके कारण किसी भी प्रकारका अभिमान नहीं रखें। सभी लोगोंको यथायोग्य सम्मान दें।[१५] इस प्रकार रहकर निरन्तर भावपूर्ण हृदयसे हरिनाम ग्रहण करें। इस प्रकार कृष्णकी कृपासे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति होती है। ऐसा करनेसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि किङ्करके रूपमें हमारी सेवा करनेके लिए सर्वदा प्रतीक्षा करेंगे।[१६] यदि हृदयके अन्दर कुछ-कुछ कामना भी हो, तो उसे दीनताके साथ घृणापूर्वक स्वीकार करते-करते निष्कपट होकर भजन करते रहना चाहिए। कुछ ही दिनोंमें करुणामय भगवान् हमारे हृदयमें विराजमान होकर हृदयको निष्कामकर हमारे प्रेमको स्वीकार कर लेंगे।[१७]

---

[१३] न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञशमखाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥
(श्रीमद्भा. ५/१९/२४)

[१४] नह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः॥
हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१०/८-९)

[१५] तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥ (शिक्षाष्टकम् ३)

[१६] भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्दैव नः फलति दिव्यकिशोरमूर्त्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतयः समयप्रतिक्षाः॥
(कृष्णेर्णामृतम्)

[१७] शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥ (श्रीमद्भा. १/२/१७)

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्मकी दो विशेष बातें

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्ममें दो विशेष बातें हैं—(१) रुचिपूर्वक हरिनाम करना और (२) जीवोंपर दया करना। ये दोनों बातें जिस व्यक्तिमें जितनी अधिक परिमाणमें रहती हैं, वह उतना ही उत्तम वैष्णव है।[१८] अन्यान्य सद्गुणोंको प्राप्त करनेके लिए पृथक् रूपसे कोई चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं है। भक्तमें समस्त गुणोंका उदय अपने आप होता है।[१९] भक्तजन स्वभावसे ही उत्तम श्रेयका आचरण करते हैं तथा श्रेयजनक आचरणसे प्रसन्नता प्राप्त करते हैं।[२०] कृष्णका दास हो जानेपर जीवोंको किसी प्रकारका दुःख या कष्ट नहीं होता।[२१] गुरु और आत्मीयवर्ग किस समय सङ्गके योग्य होते हैं—इस विषयमें सतर्क रहना आवश्यक है।[२२] जातरति-भावुक

---

[१८] सोऽभिवन्द्येऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु म दयां पराम्॥
(श्रीमद्भा. १०/४१/५१)

[१९] यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा. ५/१८/१२)

[२०] एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैधिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥
(श्रीमद्भा. १०/२२/३५)

[२१] तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहन्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/३६)

[२२] गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्
न माचयेद् यः समुपेत्यमृत्युम्॥
(श्रीमद्भा. ५/५/१८)

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधेरन् हरिसंश्रयम्॥
(श्रीमद्भा. ३/२२/३७)

भक्तका जीवन अत्यन्त पवित्र होता है। उनकी रुचि सर्वदा विशुद्ध होती है।[२३]

साध्य-साधनतत्त्व

इन सब शिक्षाओंका संक्षिप्त सार श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीको श्रीमन्महाप्रभुने श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार बतलाया है—

हाँसि' महाप्रभु रघुनाथेरे कहिल।
"तोमार उपदेष्टा करि' स्वरूपेरे दिल॥
'साध्य'-'साधन' तत्व सिख इहार स्थाने।
आमि जत नाहि जानि, इहो तत जाने॥
तथापि आमार आज्ञाय यदि श्रद्धा हय।
आमार एइ वाक्ये तुमि करिह निश्चय॥
ग्राम्यकथा न शुनिबे ग्राम्यवार्त्ता न कहिबे।
भाल ना खाइबे, आर भाल न परिबे॥
अमानी मानद हञा कृष्णनाम सदा लबे।
ब्रजे राधाकृष्ण-सेवा मानसे करिबे॥
एइ त' संक्षेपे आमि कैलुँ उपदेश।
स्वरूपेर ठाँइ इहार पावे सविशेष॥

(चै. च. अ. ६/२३३-२३८)

इस उपदेशमें महाप्रभुजीने अत्यन्त गूढ़ रूपमें श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको अष्टकालीय-भजन-प्रणालीका उपदेश किया है। इसी ग्रन्थमें अन्यत्र श्रीस्वरूप दामोदरसे प्राप्त सविशेष उपदेशोंका वर्णन किया जाएगा। भक्तगण उन्हें ग्रहण करनेके लिए योग्य अधिकारी बननेका प्रयास करें।

भावभक्तिको लक्ष्यकर वैधीभक्तिकी जो उत्तम और एकान्त भावसे अनुशीलनकी बुद्धि होती है, और प्रेमभक्तिके आविर्भावको लक्ष्यकर

---

[२३] अर्थेन्द्रिताराम सगोष्ठ्यतृष्णया तत् सम्मतानामपपरिग्रहेण च।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन् विना हरेर्गुणपीयूषपानात्॥

(श्रीमद्भा. ४/२२/२३)

भावभक्तिकी जो निर्बन्धित अनुशीलनकी बुद्धि होती है, उसे निर्बन्धिनी मति कहते हैं। ऐसी निर्बन्धिनी मति रहनेसे अत्यन्त शीघ्र ही भक्ति-सिद्धि होती है। इसीका दूसरा नाम उपयुक्त यत्नाग्रह है।[२४] साधकगण सर्वप्रथम निर्बन्धिनी मतिका आश्रय ग्रहण करें। यत्नाग्रह परित्याग करके इस विषयमें उदासीन होना उचित नहीं है।

---

[२४] सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः।
अचिरादेव सर्वार्थसिध्येषामभीप्सितः॥
(नारदीय वाक्यम्)

द्वितीय वृष्टि

गौण विधिका विचार

प्रथम धारा
गौण विधिके विभाग

भक्ति ही मुख्य अभिधेय है, कर्म और ज्ञान नहीं

जीवके चरम प्रयोजनस्वरूप प्रेमको प्राप्त करनेके लिए समस्त शास्त्रोंने एकस्वरसे भक्तिको ही एकमात्र अभिधेय या उपाय स्थिर किया है—इसे प्रथम वृष्ठिमें दिखलाया गया है। कर्म और ज्ञान साक्षात् अर्थात् मुख्य अभिधेय नहीं है, इसका विचार साधारण रूपमें दिया गया है। परन्तु कर्म और ज्ञानकी बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है—ऐसी बात भी नहीं है, बल्कि इन दोनोंकी भक्तिसाधनाकी प्राथमिक अवस्थामें कुछ-कुछ आवश्यकता भी है। अतएव कर्म और ज्ञान गौण उपाय माने गए हैं और मुख्य उपाय श्रवण-कीर्त्तन आदि रूप भक्तिको ही निर्दिष्ट किया गया है। कर्म और ज्ञान गौण होनेपर भी जड़बद्ध जीवोंके लिए अभिधेय बतलाए गए हैं।[१]

ज्ञान-कर्म गौण अभिधेय हैं और भक्ति मुख्य अभिधेय है। ज्ञान और कर्मभक्तिको प्राप्त करानेके लिए साधन हैं और भक्ति साक्षात् रूपसे प्रेमको प्रकट करानेके लिए साधन है। इस विषयका आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाएगा। शरीर, मन और समाजको भक्तिके अनुकूल रूपमें व्यवस्थापित करनेमें ही कर्म और ज्ञानका अभिधेयत्व है, अन्यथा ऐसे कर्म और ज्ञानको शास्त्रोंमें बहिर्मुख बतलाते हुए उनकी प्रचुर निन्दा देखी जाती है। हम सबसे पहले यहाँ गौण

---

[१] योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/६)

विधिका विस्तारपूर्वक विवेचनकर मूल सिद्धान्तके विषयपर विचार करेंगे।

गौण विधि तीन प्रकारकी होती है—(१) जननिष्ठ विधि, (२) समाजनिष्ठ विधि, और (३) परलोकनिष्ठ विधि।

जननिष्ठ विधि

इनमेंसे जननिष्ठ विधि दो प्रकारकी होती है—(१) शरीरनिष्ठ विधि और (२) मनोनिष्ठ विधि। मानव शरीरको पुष्ट बनाने और स्वस्थ रखनेके लिए जो व्यवस्थाएँ हैं उनको शरीरनिष्ठ विधि[२] कहते हैं। यथायोग्य आहार, यथायोग्य पान, यथायोग्य निद्रा और यथायोग्य व्यायाम इत्यादि जितनी प्रकारकी विधियाँ हैं तथा रोग होनेपर आयुर्वेद शास्त्रमें चिकित्सा सम्बन्धी जो सब व्यवस्थाएँ हैं, वे सभी शरीरनिष्ठ विधियाँ हैं। शरीरनिष्ठ विधियोंका पालन नहीं करनेसे मनुष्य स्वच्छन्द रूपसे जीवन-यात्रा निर्वाह नहीं कर सकता। साथ ही मनोनिष्ठ विधियोंका अवलम्बन नहीं करनेपर मनकी उपलब्धिशक्ति, धारणशक्ति, कल्पनाशक्ति, विभावनाशक्ति तथा विचारशक्ति—ये पुष्ट और विकसित नहीं हो पातीं और फलस्वरूप ये अपने-अपने कार्यको भलीभाँति करनेमें असमर्थ हो पड़ती हैं। विज्ञान, शिल्प आदिकी भी उन्नति नहीं होती। मनका कुसंस्काररूप अन्धकार भी नष्ट नहीं होता। विषयोंके सम्बन्धमें शुद्ध ज्ञान भी नहीं हो पाता। बुद्धिको जड़चिन्तासे मोड़कर परमेश्वरकी चिन्तामें नियुक्त नहीं किया जा सकता। अन्तमें पाप-चिन्ता

---

[२] नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(श्रीगी. ६/१६-१८, २९)

और निरीश्वरभाव—ये दोनों मनको वशीभूतकर मनुष्यको पशुतुल्य बना देते हैं। इसलिए मनुष्य-जीवनको सफल बनानेके लिए जननिष्ठ विधिका पालन नितान्त आवश्यक है।

समाजनिष्ठ विधि

मनुष्य समाजबद्ध होकर वास करते हैं और वे समाजको उन्नत और निष्पाप रखनेके लिए समाजनिष्ठ विधियोंकी व्यवस्था करते हैं। समाजनिष्ठ विधिके अन्तर्गत विवाह विधि एक बड़ी ही उत्तम विधि है। मनुष्य समाजमें यदि विवाहकी विधि नहीं होती, तो वह इतना उन्नत नहीं हो पाता।[३] वैसी दशामें मनुष्य भी पशुओंकी भाँति उंच्छृखल होकर भ्रमण करता। किसी-किसी देशमें पहले विवाहकी प्रथा नहीं थी, परन्तु जब उन देशोंमें नाना प्रकारके सामाजिक उत्पात होने लगे, तब वहाँ भी विवाह विधिका प्रचलन हुआ। जब एक पुरुष उंच्छृखलता त्यागकर परमेश्वरको साक्षी रखकर समाजके लोगोंकी सम्मतिसे एक स्त्रीको ग्रहणकर संसार यात्राकी नींव रखता है, तो उसे विवाह कहते हैं। पश्चात् सन्तान होनेपर उनका पालन-पोषण करते हैं और उचित शिक्षा देकर उनके जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था कर देते हैं। संसारमें वर्त्तमान मानववृन्द परस्पर भ्रातृभाव स्थापन, दूसरोंका कष्ट-निवारण, न्यायानुसार अर्थसंग्रह द्वारा जीविका-निर्वाह, सत्यपालन, मिथ्याका दमन इत्यादि कार्यों द्वारा संसारकी उन्नतिकी व्यवस्था करते हैं।

समाजनिष्ठ प्रवृत्ति मानव जातिका प्रधान धर्म है। सभी देशोंमें सभी कालोंमें मानव जातिमें इस धर्मको लक्ष्य किया जाता है। जिस देशमें वहाँके लोगोंकी जितनी ही अधिक सामाजिक उन्नति और सभ्यताकी समृद्धि होती है, उस देशमें समाजनिष्ठ विधि भी उतनी ही अधिक परिपक्व और बद्धमूल होती है। संसारकी सारी जातियोंमें आर्य जातिकी सामाजिक उन्नति और सभ्यता सबसे अधिक है—यह

---

[३] न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणीगृहमुच्यते ।
तया हि सहितः सर्वान् पुरुषार्थान् समश्नुते॥
(महाप्रभुदाहृतं स्मृतिवचनम्)

सर्व-सम्मत है। आर्यजातिकी जितनी भी शाखा-प्रशाखाएँ निकली हैं, उनमें भारतवासी आर्य शाखा ही विद्या, बुद्धि और सामाजिक विषयोंमें सर्वाधिक उन्नत हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यद्यपि वही आर्य शाखा आज वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर बलहीन हो अन्य जातियोंके अधीन हो गई है, तथापि उसके सामाजिक सम्मानमें कभी भी कमी नहीं हो सकती। किसी अर्वाचीन व्यक्तिके द्वारा भारतीय सभ्यता और समाजकी उन्नतिका प्रतिवाद किए जानेके कारण भारतीय आर्यशाखा वास्तवमें हेय और लघु नहीं हो जाएगी। भारतीय आर्य शाखाके हाथोंसे समाजनिष्ठ विधिकी कितनी उन्नति हुई, इसे वेदशास्त्रोंके अध्ययनसे ही जाना जा सकता है। हमारे भारतीय ऋषियोंके द्वारा समाजनिष्ठ विधियोंकी चरम उन्नति हुई थी, इसे संसारके सभी सहृदय और वैज्ञानिक व्यक्ति अवश्य ही स्वीकार करेंगे।

वर्ण और आश्रम विधि

ऋषियोंने सूक्ष्म वैज्ञानिक विचारोंकी भित्तिपर समाजनिष्ठ विधिको दो भागोंमें विभक्त किया है—(१) वर्ण विधि और (२) आश्रम विधि।[४] समाजनिष्ठ मानवकी दो प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं—(१) स्वभाव और (२) अवस्थान। जननिष्ठ धर्मसे स्वभावका गठन होता है तथा समाजनिष्ठ धर्मसे अवस्थानकी सुष्ठुता सम्पादित होती है। सामाजिक होनेसे ही मनुष्यका जननिष्ठ धर्म नष्ट नहीं हो जाता है, बल्कि समाजके सम्बन्धसे वह और भी पुष्ट होता है। मनुष्यके स्वभावसे वर्णविधि और अवस्थासे आश्रम विधिकी व्यवस्थाकी गई थी। मनुष्यकी शारीरिक मानसिक वृत्तियाँ अनुशीलन करते-करते क्रमशः विकसित होकर एक स्थायी अवस्थाको प्राप्त होती है। उस स्थायी अवस्थामें जो प्रवृत्ति दूसरी-दूसरी प्रवृत्तियोंपर प्रभुत्व स्थापन

---

[४] यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/१)

करती है, वही प्रवृत्ति उस मनुष्यका स्वभाव कहलाती है। स्वभाव चार प्रकारके हैं—ब्रह्म-स्वभाव, क्षत्र-स्वभाव, वैश्य-स्वभाव और शूद्र-स्वभाव।

चार प्रकारके स्वभाव

मनुष्यकी उत्कृष्ट प्रवृत्तिसे ही उपर्युक्त चार प्रकारके स्वभाव उदित होते हैं। नीच प्रवृत्तिसे अन्त्यज स्वभाव पैदा होता है। अन्त्यज-स्वभावके स्वभावको त्याग करनेके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि नहीं है।[५] जन्मसे लेकर दृढ़ प्रवृत्तिके उदय होनेतक सङ्ग और अनुशीलन (शिक्षा आदि) के अनुसार ही प्रबल प्रवृत्तिका बीज अंकुरित होता है, पौधेके रूपमें क्रमशः बढ़ता है, पुनः बढ़कर वृक्षका रूप धारणकर पुष्ट होता रहता है। पूर्व कर्मोंके अनुसार स्वभाव उदित होता है—ऐसा शास्त्रकारोंने लिखा है। जिस वंशमें जिसका जन्म होता है, उस वंशका स्वभाव ही बचपनसे संसर्गके कारण उसका अपना स्वभाव बन जाता है। बादमें विद्या-शिक्षा और दूसरे-दूसरे अच्छे या बुरे संसर्गोंके द्वारा बचपनके गठित स्वभावमें कुछ उन्नति या अवनति होगी, यही नैसर्गिक है। शूद्र-स्वभाववाले मनुष्यको शूद्र-स्वभावापन्न सन्तान और ब्रह्म-स्वभाववाले मनुष्यको ब्रह्म-स्वभावापन्न सन्तान उत्पन्न होना ही उचित है। परन्तु ऐसा सर्वत्र होगा ही—ऐसी कोई निश्चित विधि नहीं है। इसीलिए शास्त्रकारोंने स्वभाव निरूपणपूर्वक वर्णविधान करनेके अभिप्रायसे संस्कार-विधियोंकी व्यवस्था की थी। कालके प्रभावसे संस्कार-विधिमें बहुत परिवर्त्तन हो गया है। इस वर्ण-निर्णायक संस्कार विधिके लगभग लुप्त हो जानेके कारण ही देशकी अवनति हुई है।[६] वर्ण विधि यथार्थ रूपमें सामाजिक धर्म है, इसमें सन्देह नहीं है।

---

[५] अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्त्यावसायिनाम्॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/२०)

[६] यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्यते तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥ (श्रीमद्भा. ७/११/३५)

अवस्थान

विज्ञानके अनुसार अवस्थान चार प्रकारके होते हैं—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ, और (४) संन्यास। (१) जो लोग विवाहसे पूर्व विद्योपार्जन और देश-भ्रमण करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं। (२) जो विवाह करके संसारमें अवस्थित होते हैं, वे गृहस्थ हैं, (३) जो लोग अधिक आयु होनेपर कार्योंसे विरत होकर निर्जनमें वास करते हैं, वे वानप्रस्थ हैं, तथा (४) जो संसारके समस्त बन्धनोंका सर्वथा परित्यागकर विचरण करते हैं, वे संन्यासी हैं। वर्ण और आश्रमके लिए जो धर्म स्थापित हुआ है, उसका नाम वर्णाश्रमधर्म है। यही धर्म भारतीय आर्य शाखाकी सामाजिक विधि है। जिस देशमें इस विधिका अभाव है, उस देशको उन्नत देश नहीं कहा जा सकता। इस धारामें इस विषयका साधारणरूपमें दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। अगली तृतीय धारामें इसके सम्बन्धमें विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

द्वितीय धारा

पुण्य-कर्म

परलोकनिष्ठ विधिके माध्यमसे मनुष्यके कर्मानुसार पारलौकिक फलका विचार किया जा सकता है। इस समाजमें रहकर जो सत्कर्म करते हैं, वे देहत्यागके पश्चात् स्वर्गको प्राप्त होते हैं। जो लोग असत्कर्म करते हैं, वे नरक भोग करते हैं। सत्कर्मका नाम-पुण्य है तथा असत कर्मका नाम-पाप है। पुण्य-संचय करनेके लिए जो विधियाँ हैं और पाप-निवारणकी भी जो समस्त विधियाँ हैं, उन सबको एकत्र मिलाकर परलोकनिष्ठ विधिका बोध होता है।

अधिकार भेदसे कर्म विधि

जितने प्रकारके सत्कर्म और वर्णाश्रमगत धर्मोंको कहा जा रहा है, उनमें अनुष्ठाताओंके अधिकर भेदसे तामस, राजस और सात्त्विक—ये तीन प्रकारकी श्रद्धाएँ लक्षित होती हैं। पुनः ये श्रद्धाएँ दो प्रकारकी होती हैं—प्रवृत्तिपरा और निवृत्तिपरा। कनिष्ठाधिकारीगण प्रवृत्तिपरा श्रद्धाका अवलम्बन करते हैं। मध्यमाधिकारीगण प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकारकी श्रद्धाओंका अवलम्बन करते हैं तथा उत्तमाधिकारी केवल निवृत्तिपरा श्रद्धाके द्वारा कार्य करते हैं।[१] जहाँ अनेक

---

[१] त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ (श्रीगी. १७/२, ४)
अस्मिँल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/११)

देवताओंकी पूजाकी विधि है, उन कर्मोंमें सात्त्विक व्यक्तियोंके लिए केवल भगवत्-पूजाकी विधि है। वैष्णव-वर्णियोंका इन्द्रिय-तृप्तिरूप भोगका उद्देश्य नहीं होता। तब अप्राकृत गति प्राप्त हो सके, उसके अनुसार वे कर्म करेंगे।[२] कर्मका नाम जीवन-यात्रा है। तत्त्व-ज्ञानियोंके कर्मके सम्बन्धमें भगवान्‌ने गीतामें यह निर्णय किया है कि जो कर्म भक्तिके अनुकूल हों, उनको करना चाहिए, तथा जो कर्म भक्तिके प्रतिकूल हों, उनका परित्याग करना चाहिए।[३]

स्वरूपगत और सम्बन्धगत पुण्य

हम यहाँ पुण्य और पापका संक्षेपमें विवेचन करेंगे। उनको वैज्ञानिक रूपमें विभाजित करना अत्यन्त कठिन है। कुछ ऋषियोंने पाप-पुण्यको शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक—इन चार भागोंमें विभक्त किया है। किसी-किसीने उनको कायिक, वाचिक और मानसिक—इन तीन भागोंमें विभक्त किया है। किसी-किसीने कायिक, ऐन्द्रियिक और अन्तःकरणिक—इन तीन भागोंमें बाँटा है। फलस्वरूप हम यह देख पाते हैं कि ये विभाग सर्वाङ्गसुन्दर नहीं हो पाए हैं। हम लोग पहले पुण्यको दो भागोंमें विभक्त करते

---

[२] न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्द्धते॥
(श्रीमद्भा. ९/१९/१४)

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थे शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥
(श्रीमद्भा. ११/२९/९)

[३] न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(श्रीगी. ३/५)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
(श्रीगी. ४/१७, १८)

हैं—स्वरूपगत पुण्य और सम्बन्धगत पुण्य। न्याय, दया, सत्य, पवित्रता, मैत्री, सरलता और प्रीति—ये स्वरूपगत पुण्य हैं। इनको स्वरूपगत पुण्य कहनेका कारण है कि ये पुण्यसमूह जीवके स्वरूपका आश्रयकर सदैव उनके अलङ्कारके रूपमें विराजमान रहते हैं। परन्तु बद्धावस्थामें कुछ स्थूल होकर ये पुण्य नाम धारणमात्र कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे सभी पुण्य सम्बन्धगत हैं; क्योंकि वे जीवके जड़ सम्बन्धजन्य उत्पन्न हुए हैं। सिद्धावस्थामें उनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। पाप कदापि जीवका स्वरूपगत तत्त्व नहीं है। बल्कि वह बद्धावस्थामें जीवको आश्रय करता है। जो पापसमूह स्वरूपगत पुण्यके विरोधी होते हैं, उन्हें स्वरूप-विरोधी पाप कहते हैं। द्वेष, अन्याय, मिथ्या, चित्त-विभ्रम, निष्ठुरता, क्रूरता, लाम्पट्य—ये कतिपय पापसमूह स्वरूप-विरोधी पाप हैं। दूसरे समस्त पाप जीवके साम्बन्धिक पुण्य-विरोधी हैं। हम संक्षेपमें पाप-पुण्यका दिग्दर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठकगण इन संकेतोंसे कुछ परिश्रमकर अनायास ही उनका विस्तृत विचार समझ सकते हैं।

प्रधान-प्रधान पुण्यकर्म दस प्रकारके हैं—(१) परोपकार, (२) गुरुजनोंकी सेवा, (३) दान, (४) आतिथ्य, (५) पवित्रता, (६) महोत्सव, (७) व्रत, (८) पशुपालन, (९) जगत वृद्धिके कार्य, और (१०) न्यायाचरण।

(१) परोपकार

परोपकार दो प्रकारके होते हैं—(१) दूसरोंका दुःख दूर करना और (२) दूसरोंकी उन्नतिका साधन।

अपना और परायेका विचार न कर सभी लोगोंका उपकार करनेमें तत्पर रहना चाहिए। जगतमें जितने प्रकारके कष्ट हैं, वे हमको जिस प्रकार बुरे लगते हैं, उसी प्रकार वे दूसरोंको भी बुरे लगते हैं। जब हमपर दुःख आते हैं, तब हम ऐसा सोचते हैं कि दूसरे लोग यत्नपूर्वक हमारे दुःखको दूर करें। इसलिए दूसरोंपर दुःख आनेपर हमें भी उनके दुःखको दूर करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यद्यपि इस कार्यमें स्वार्थपरता बाधक होती है, तथापि जहाँ तक सम्भव हो, स्वार्थपरताको दूर रखकर यथाशक्ति दूसरोंका दुःख

दूर करनेमें लग जाना चाहिए। साधारणतः ये कष्ट चार प्रकारके होते हैं—(१) पीड़ा, भूख आदि शारीरिक कष्ट, (२) कुचिन्ता, हिंसा, शोक और भय आदि मानसिक कष्ट, (३) संसार-पालनमें असमर्थता, पुत्र-कन्याकी शिक्षा-दीक्षा और विवाह आदिमें असमर्थता, मृत व्यक्तिके संस्कार आदिके लिए अर्थ और लोकाभाव। ये सामाजिक कष्ट और (४) संशय, नास्तिकता और पापकी स्पृहा—ये आध्यात्मिक कष्ट हैं। जिस प्रकार दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिए प्रयत्न करना उचित है, उसी प्रकार दूसरोंकी उन्नति-साधनके लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। अपने सामर्थ्यके अनुसार आर्थिक, दैहिक, वाचिक आदि सहायताके द्वारा दूसरोंका शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नतिसाधन करना कर्त्तव्य है।

(२) गुरुजनोंकी सेवा

गुरुजनोंकी सेवा तीन प्रकारकी होती है—

(१) माता-पिताका भरण-पोषण और उनकी सेवा।

(२) उपदेष्टाओंका पालन-पोषण और उनकी सेवा।

(३) सभी गुरुजनोंका सम्मान और उनकी सेवा।

माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना तथा उनकी यथासाध्य सेवा करना सबके लिए प्रधान कर्त्तव्य है। जो निराश्रित हैं, जो सब प्रकारसे अक्षम हैं तथा जिन्होंने हमारी बचपनकी अवस्थामें सर्व प्रकारसे रक्षा की है तथा हमारा पालन-पोषण किया है, उनकी अपने सामर्थ्यके अनुसार सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिए। बाल्यकालमें जो लोग शिक्षा और उपदेश प्रदान करते हैं, उनका पालन-पोषण और सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिए। जो परमार्थमन्त्र और ज्ञानका उपदेश करते हैं, वे सभी उपदेशकोंसे श्रेष्ठ, वरणीय और सेवनीय हैं।[४] जो सम्बन्धमें बड़े हैं, आयु और ज्ञानमें श्रेष्ठ हैं, वे भी गुरुजन ही है। उनका भी यथायोग्य सम्मान करना चाहिए तथा आवश्यकताके

---

[४] असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शणात्॥
अन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥ (*अगले पृष्ठपर*)

अनुसार उनकी सेवा करनी चाहिए। यदि गुरुजनोंका उपदेश अन्यायपूर्ण हो, तो उसका पालन नहीं करना चाहिए। परन्तु कठोर वाणी और अपमानसूचक व्यवहार द्वारा उनके प्रति घृणा प्रकाश नहीं करनी चाहिए, मीठे वचनोंसे उपयुक्त समयपर विनम्रतापूर्वक उनसे अन्यायपूर्ण उपदेशको स्थगित रखनेकी प्रार्थना करनी चाहिए।

(३) दान

किसी योग्यपात्रको अर्थ और द्रव्य देनेका नाम दान है। अपात्रको दिये जानेवाले दानका निरर्थक ही अपव्यय होता है। ऐसे अपव्ययकी पापके अन्तर्गत गणना की जाती है।

दान[५] १२ प्रकारके होते हैं—

(१) कुँआ और सरोवर आदिके निर्माण द्वारा जल-दान, (२) उपयुक्त स्थानपर वृक्षारोपण द्वारा छाया और वायु-दान, (३) उपयुक्त स्थानपर प्रदीप-दान, (४) औषध-दान, (५) विद्या-दान, (६) अन्न-दान, (७) मार्ग-दान, (८) घाट-दान, (९) गृह-दान, (१०) द्रव्य-दान, (११) सुखाद्यका अग्रभाग दान, और (१२) कन्या-दान।

प्यासेको जल-दान करना उचित है। प्यासा व्यक्ति घरपर उपस्थित होनेपर उसे सुशीतल जल पिलाना चाहिए। साधारण लोगोंके जल पीनेके लिए कुँआ, तालाब, सरोवर आदिका निर्माण करना पुण्य-कर्म है। उपयुक्त स्थान देखकर इष्टापूर्त्तके इन कार्योंको करना

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च।
एतत् सर्वे गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥
यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥
यथा वार्त्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न विभ्रिति।
अनर्थाय भवेयुः स्ते पूर्त्तमिष्टं तथासतः॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/२२-२६, २९)

[५] दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः॥
(श्रीमद्भा. ११/२३/४६)

चाहिए।[६] जहाँ जलकी विशेष आवश्यकता हो, वहींपर कूपादि खुदवाना चाहिए। तीर्थस्थानोंमें अनेक लोगोंको जलकी आवश्यकता होती है। अतः वहाँपर यदि उपयुक्त नदी आदि न हो, तो वहाँ कूपादि निर्माण करवाना कर्त्तव्य है। मार्गके दोनों किनारोंपर, नदीके तटपर तथा विश्राम स्थानोंमें पीपल आदिके छायादार वृक्ष लगाने चाहिए। अपने घरपर तथा अन्यान्य पवित्र स्थानोंमें तुलसी आदिके वृक्ष लगाने चाहिए। उससे शारीरिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकारके उपकार होंगे। घाटपर, मार्गमें तथा विपत्तिकी सम्भावनावाले स्थानोंमें पथिकोंके उपकारके लिए प्रदीप-दान करना चाहिए। वे प्रदीप वायुके झोंकोंसे बुझ न जाएँ, इसके लिए उन प्रदीपोंको काँचादिके आवरणोंमें रखनेसे विशेष उपकार होगा। जिस समय अन्धकार रहे, चन्द्र न रहे और बादल घिरे हों, तब रातमें आलोक देनेकी विधि है। जो जितना अधिक आलोक देंगे, वे उतना ही अधिक पुण्य संचय करेंगे। आकाश प्रदीप केवल कार्त्तिक महीनेमें ही देना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। कार्त्तिक महीनेसे देना आरम्भ करना चाहिए। आकाश प्रदीप अधिक ऊँचा होनेपर उससे शोभाके अतिरिक्त कोई दूसरा उपकार नहीं होता।

औषधि-दान दो प्रकारसे की जा सकती है। एक तो रोगियोंके घर जाकर अथवा उनको अपने घर बुलाकर दवाएँ दी जा सकती हैं और दूसरे, एक निर्दिष्ट औषधालय निर्माण कराकर वहाँ दवाएँ दी जा सकती हैं। जिसके लिए जो सुगम और अनुकूल हो, वे वैसा ही करेंगे। किसी छात्रको अपने घरपर अपने व्ययसे विद्या-शिक्षा दी जा सकती है अथवा किसी विद्यालयमें भी अपने खर्चसे उसे पढ़ाया जा सकता है। बालक बालिकाओंको विद्या-दान करना एक प्रधान कर्त्तव्य कर्म है। अन्न-दान दो प्रकारसे किया जा सकता है—एक अपने घरपर अन्न-दान किया जा सकता है, दूसरे किसी सत्रपर सर्वसाधारणको अन्न-दान किया जा सकता है। अगम्य स्थानमें या

---

[६] इष्टामूर्त्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया॥
(श्रीमद्भा. ११/११/४७)

दुर्गम मार्ग निर्माण करनेको मार्ग-दान कहते हैं। पत्थर आदिके पथ स्थायी होनेके कारण अधिक पुण्यजनक हैं। नदी या सरोवरपर साधारण लोगोंके व्यवहारके लिए घाट निर्माण करनेको घाट-दान कहते हैं। घाटके ऊपर विश्राम स्थान, बगीची, चाँदोवा और देव-मन्दिर आदिका निर्माण करनेसे अधिक पुण्य होता है। जो अर्थाभावके कारण गृह निर्माणकर रहनेमें असमर्थ हैं, उनको गृह-दान करना पुण्य है। आवश्यकतानुसार किसी योग्य पात्रको अर्थ या द्रव्य देनेसे द्रव्यदान होता है। सुखाद्यका अग्रभाग किसी सुपात्रको देकर स्वयं ग्रहण करना चाहिए। उपयुक्त और सजातीय वर्णके पात्रको अलङ्कारोंके साथ कन्यादान करनेको कन्या-दान कहते हैं।

(४) आतिथ्य

आतिथ्य दो प्रकारका होता है—व्यक्तिके प्रति और समाजके प्रति। गृहस्थ व्यक्तिके घर किसी अतिथिके उपस्थित होनेपर उसे उसकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए। शास्त्रमें एसा निर्देश है कि रसोई हो जानेपर गृहस्थ अपने घरसे बाहर निकलकर भूखे व्यक्तिको तीन बार पुकारेंगे। यदि कोई आ जाए, तो उसे भोजन कराकर स्वयं परिवारके साथ भोजन करेंगे। ढाई प्रहरके समय अर्थात् दिनके लगभग एक-डेढ़ बजे अतिथिको पुकारनेकी विधि है। आजकल उतने समय तक अनाहार रहना सबके लिए सम्भव नहीं, इसलिए उससे पहले भी भूखे व्यक्तिको पुकारनेसे कर्त्तव्य पूरा हो सकता है। भूखे व्यक्तिसे व्यवसायी भिक्षुकको नहीं समझना चाहिए। सामाजिक क्रियाओंके द्वारा सामाजिक आतिथ्य करना कर्त्तव्य है।

(५) पवित्रता

पवित्रता चार प्रकारकी होती है—(१) शौच, (२) पथ, घाट, गोगृह, बगीची, स्व-गृह और देव-मन्दिरोंका मार्जन, (३) जंगल साफ करना, और (४) तीर्थयात्रा।

शौच दो प्रकारका होता है—अन्तःशौच और बहिःशौच। चित्त शुद्धिको अन्तःशौच कहते हैं। निष्पाप और पुण्यजनक क्रियाओंके द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है। निष्पाप, लघुपाक, परिमित आहार और

पानसे भी चित्त-शुद्धि होती है। मादक द्रव्योंका सेवन करनेवाले और दूसरे-दूसरे कुकर्मी व्यक्तियोंके द्वारा स्पर्श किया हुआ भोजन-पान करनेसे चित्त अपवित्र हो जाता है। चित्त शुद्धिके जितने भी उपाय हैं, उनमें भगवत्-स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है। पापचित्तका शोधन करनेके लिए प्रायश्चितकी व्यवस्थाकी गई है। उनमेंसे चान्द्रायण आदि प्रायश्चित कर्मोंसे पापीका पाप दूर होता है। परन्तु पापका मूल अर्थात् पापवासना दूर नहीं होती। अनुतापरूप ज्ञान-प्रायश्चितसे पापवासना तो दूर होती है, परन्तु पापबीज नष्ट नहीं होता। यह पापबीज है—ईशविमुखता। ईशविमुखता ही जीवके संसार-भोगका कारण है। यह तो एकमात्र हरि-स्मरणके द्वारा ही दूर होती है।[७] प्रायश्चित तत्त्वका विचार अत्यन्त अधिक है। उसके लिए दूसरे ग्रन्थोंको देखनेकी आवश्यकता होगी। तीर्थजल या गङ्गा आदिमें स्नान और देव दर्शनोंसे भी चित्त-शुद्धि होती है। अपना शरीर, वस्त्र, गृह इत्यादि साफ-सुथरा और निर्मल रखनेका नाम बहिःशौच है। स्वच्छ जलमें स्नान, साफ-सुथरा और पवित्र वस्त्र धारण तथा सात्त्विक द्रव्योंका भोजन और पान—इन कार्योंसे शौच कार्य सम्पादित होता है। मल-मूत्र और अपवित्र वस्तुओंका शरीरसे स्पर्श हो जानेपर जल द्वारा उस अङ्गको धो लेना उचित है। पथ, घाट, गोशाला, बगीची, अपना गृह और देव मन्दिरोंके मार्जन द्वारा पवित्रता अर्जन करनी चाहिए। अपने-अपने घर, घाट, पथ, गोशाला और चबूतरेको साफ रखना सबका कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त जनसाधारणके व्यवहारके लिए जो पथ, घाट, बगीची और देव-मन्दिर हों, उन्हें भी सबके लिए साफ करना कर्त्तव्य है। यदि ग्राम बड़ा हो, तो ग्रामके लोगोंको मिलकर स्वेच्छापूर्वक अथवा सरकारकी सहायतासे अर्थ संग्रहकर वैसे-वैसे सार्वजनिक कार्योंको सम्पन्न कराना चाहिए। जो कि सभी

---

[७] गुरुणां च लघूनां च गुरुनि च लघूनि च।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः॥
तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशांघ्रिसेवया॥
(श्रीमद्भा. ६/२/१६-१७)

ग्रामवासियोंके लिए पुण्यजनक कार्य है। अपने-अपने घरके निकट, जो जंगल या गन्दगी हो, उसे स्वयं साफ रखना चाहिए। सर्वसाधारणकी भूमिमें वन या जंगल हो जानेपर उसे पूर्व उपायसे साफ कर लेना चाहिए। तीर्थयात्रासे चित्त बहुत कुछ पवित्र होता है। यद्यपि तीर्थयात्राका मूल और चरम उद्देश्य साधुसङ्गकी प्राप्ति ही है, तथापि तीर्थोंमें निवास करनेवाले सभी व्यक्ति स्वयंको मन-ही-मन पवित्र समझते हैं, क्योंकि तीर्थ-सेवन द्वारा उनकी पाप प्रवृत्ति बहुत कुछ दूर हो जाती है।

(६) महोत्सव

महोत्सव तीन प्रकारके होते हैं—(१) देवता-पूजनके उपलक्ष्यमें, (२) विवाह, यज्ञ आदि बड़ी-बड़ी सांसारिक घटनाओंके उपलक्ष्यमें, और (३) सर्वसाधारणके मनोविनोद या आनन्दके लिए।

देवताओंकी पूजाके उपलक्ष्यमें जो उत्सव मनाए जाते हैं, उनसे पुण्य होता है, इसमें सन्देहकी बात नहीं है। बहुतसे लोग एकत्र होकर परस्पर मिलते-जुलते हैं, भोजन करते-कराते हैं, सङ्गीतकी चर्चा करते हैं, दुःखी-दरिद्रको भोजन कराते हैं, विद्वान व्यक्तियोंको अर्थ-दान करते हैं तथा समाजकी उन्नतिके लिए जो कार्य करते हैं, वे सभी कार्य पुण्यजनक हैं। जो लोग इन कार्योंको करनेमें समर्थ होनेपर भी उनसे उदासीन रहते हैं, वे अपराधी हैं। विशेषतः जब ये उत्सवसमूह ईश्वरभाव मिश्रित हों, तो उनका त्याग किसी प्रकारसे भी उचित नहीं है। सांसारिक घटनाएँ नाना प्रकारकी हैं, जिनके उपलक्ष्यमें उत्सव मनाए जाते हैं, जैसे—पुत्र-कन्याका जन्म, अन्न-प्राशन-संस्कार, विवाह, माता-पिताका श्राद्ध। इन अवसरोंपर महोत्सव हो सकते हैं। यथासाध्य इनका अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। ग्रामके लोग मिलकर सर्व-साधारणके कल्याण, मनोविनोद या आनन्दवर्द्धनके लिए जो देवपूजन, यज्ञ या मेला आदिका अनुष्ठान करते हैं, उनमें भी योगदान करना कर्त्तव्य है।

जामाता-पूजनोत्सव, अरन्धनोत्सव, भगिनी द्वारा भ्रातृपूजा, नवान्नोत्सव और शीतलोत्सव आदि अनेक प्रकारके सामाजिक उत्सव हैं।

(७) व्रत

व्रत तीन प्रकारके होते हैं—(१) शारीरिक, (२) सामाजिक और (३) पारमार्थिक। प्रातःस्नान, परिक्रमा, साष्टाङ्ग दण्डवत्—ये व्यायाम सम्बन्धी शारीरिक व्रत हैं। कोई-कोई धातु, (कफ, पित्त, वात) कुपित होनेपर शरीर अस्वस्थसा लगता है। इसके लिए पौर्णमासी, अमावस्या, सोमवार, रविवार आदि व्रतोंकी व्यवस्था की गई है। उन निर्दिष्ट दिनोंमें आहार और व्यवहारमें परिवर्त्तन करने तथा उपवास आदिके द्वारा इन्द्रिय संयमपूर्वक ईश्वर-चिन्तन करना ही श्रेयस्कर है। आवश्यक होनेपर उनका अवलम्बन करनेसे पुण्य होता है। उपनयन, चूड़ाकरण, विवाह आदि व्रतसमूहकी सामाजिक वर्णविचारसे अधिकारके अनुसार व्यवस्थाकी गयी है। कोई-कोई व्रत मानवमात्रके लिए भी बनाए गए हैं। विवाहकी व्यवस्था सभी वर्णोंमें है। एक पुरुष एक सवर्णा कन्याके साथ विवाह करेगा। एकपत्नीव्रत ही कर्त्तव्य है। अर्थात् एक पत्नीके रहते हुए दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। एक पत्नीके रहते हुए दूसरा विवाह करना नीच प्रकृतिके व्यक्तिका ही कार्य है। सन्तान नहीं होनेपर विशेष अवस्थामें ही एक पत्नी रहते हुए दूसरे विवाहकी व्यवस्था दी गयी है। महाभारतमें जिस मासव्रतका उल्लेख है, तथा वैसे-वैसे दूसरे जो व्रत हैं, वे सभी पारमार्थिक व्रत हैं। चौबीस एकादशी और जन्माष्टमी आदि छह जयन्तीव्रत—ये मासव्रत हैं। केवल परमार्थ चेष्टा ही इन व्रतोंका मूल उद्देश्य है। भक्तिविचारके प्रसङ्गमें इनका विस्तृत विचार होगा। श्रीहरिभक्तिविलासमें इन व्रतोंका विवरण है।

(८) पशुपालन

पशुपालन भी पुण्यकार्य है। वह दो प्रकारका होता है—(१) पशुओंका उन्नति-साधन तथा (२) पशुपोषण और रक्षा।

सभी प्रकारके आवश्यक पशुओंकी उन्नतिके लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। बिना पशुओंकी सहायतासे संसारका कार्य उत्तम रूपसे निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए पशुओंकी नस्ल, उनके बल और प्रकृतिमें जिससे उन्नति हो, उसके लिए प्रयत्न करना कर्त्तव्य है।

उनको किसी विशेष अवस्थामें रखनेसे अथवा उनके उपयुक्त स्त्री-पुरुष-संयोग द्वारा उनकी नस्लकी उन्नति होती है। समस्त प्रकारके पशुओंमें गाय जातिकी उन्नतिपर सर्वाधिक ध्यान देना परम कर्त्तव्य है। उनकी सहायतासे कृषि और परिवहन आदि कार्योंमें अत्यन्त सहायता मिलती है। उत्तम कोटीके बलवान और सुन्दर साँड़ोंके द्वारा गायोंकी सन्तान उत्पत्ति करना कर्त्तव्य है। इसी अभिप्रायसे मृत व्यक्तियोंके श्राद्धके अवसरपर छोटे-छोटे सुन्दर बछड़ोंको दागकर कर्मोंसे मुक्तकर साँड़के रूपमें छोड़ दिया जाता है। दागे हुए मुक्त साँड़ स्वतन्त्रभावसे विचरण करते-करते अत्यन्त बलवान और बृहदाकारके हो जाते हैं तथा बलवान गो-जातिके जनक होने योग्य बन जाते हैं। पशुगण जिस प्रकार संसारका उपकार करते हैं, उन्हें उसी प्रकार आहार और गृहकी व्यवस्था द्वारा पालन-पोषण करना कर्त्तव्य है। गो-पोषण और गोरक्षा-कार्यको भारतवर्षमें एक विशेष पुण्यजनक कार्य माना गया है।

(९) जगद्वृद्धिके कार्य

जगद्वृद्धि चार प्रकारसे होती है—

(१) वैध विवाह द्वारा सन्तान उत्पत्तिकरण।

(२) उत्पन्न सन्तानोंकी रक्षा एवं पालन-पोषण।

(३) सन्तानको संसारके योग्य बनाना।

(४) सन्तानको परमार्थकी शिक्षा देना।

उपयुक्त आयुमें उपयुक्त पात्रीसे विवाह करके शरीर और चित्तकी स्वास्थ्य-रक्षाकी विधिके अनुसार परस्पर प्रीतिपूर्वक संसार-निर्वाह करेंगे।[८]

इस प्रकार भगवान्‌की इच्छासे पुत्र और कन्या पैदा होंगे। उत्पन्न सन्तानोंका यत्नपूर्वक पालन-पोषण और रक्षाकी व्यवस्था करनी चाहिए। उपयुक्त आयुमें विद्या-शिक्षा एवं अन्यान्य कार्योंकी शिक्षा देनी चाहिए। क्रमशः कुछ और आयु होनेपर उनको अर्थोपार्जनकी

---

[८] गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीं तुवयसा तां सवर्णमनुक्रमात्॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/३९)

भी शिक्षा देनी चाहिए। उपयुक्त आयु होनेपर उनका विवाहकर सद्गृहस्थ बनानेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। सन्तानोंको उपयुक्त आयुमें शारीरिक विधि, धर्म-नीति और परमार्थ तत्त्वकी शिक्षा देनी चाहिए, इन कार्योंमें स्वयं वैराग्यकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।[९]

(१०) न्यायाचरण

न्यायाचरण अनेक प्रकारके होते हैं। उनमेंसे कुछेकका उल्लेख किया जा रहा है—

(१) क्षमा, (२) कृतज्ञता, (३) सत्य-भाषण, (४) आर्जव अर्थात् सरलता, (५) अस्तेय (चोरी न करना), (६) अपरिग्रह, (७) दया, (८) वैराग्य, (९) सत्शास्त्रोंका सम्मान, (१०) तीर्थ-भ्रमण, (११) सुविचार, (१२) शिष्टाचार, (१३) इज्या, और (१४) अधिकार-निष्ठा।

(१) क्षमा—किसी व्यक्ति द्वारा अपराध करनेपर भी उसे दण्ड देनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग ही क्षमा है। अपराधी व्यक्तिको दण्ड देना अन्याय नहीं है; परन्तु क्षमा करना उससे भी बढ़कर श्रेष्ठ न्याय है। प्रह्लाद और हरिदास ठाकुर अपने शत्रुओंको क्षमा करके जगतके आदर्शके रूपमें पूजित हो रहे हैं।

(२) कृतज्ञता—कोई उपकार करनेपर इतने उसे सदा-सर्वदा स्वीकार करनेका नाम कृतज्ञता है। आर्य लोग इतने कृतज्ञ होते हैं कि वे अपने माता-पिताकी जीवनभर शक्तिके अनुसार सेवा करते

---

[९] यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीड़यन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥
कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥
पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥
इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवत्वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः॥
कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट् वा मामेव भक्तिमान्।
तिष्ठेत् वनं बोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत्॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/५१-५५)

रहते हैं। उनकी मृत्यु होनेपर अशौच-ग्रहणका कष्ट करते हैं, शयन-भोजनका सुख त्याग देते हैं और दान या भोजके द्वारा उनका श्राद्धकार्य करते हैं। इतना ही नहीं, प्रति वर्ष समय-समयपर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशपूर्वक श्राद्धतर्पण भी करते हैं। सबके प्रति कृतज्ञता स्वीकार करना पुण्य कार्य है।

(३) सत्य-भाषण—जिसे विश्वासपूर्वक सत्य मानते हैं, उसे ही कहनेको सत्य-भाषण कहते हैं। सत्य बोलनेवाले पुरुष पुण्यात्मा होते हैं और उनका सर्वत्र आदर होता है।

(४) आर्जव—सरलताका नाम ही आर्जव है। मानव-जीवन जितना ही सरल होगा, उतना ही वह पुण्यवान होगा।

(५) अस्तेय—दूसरेका द्रव्य अन्याय रूपसे ग्रहण न करनेका नाम अस्तेय है। जब तक परिश्रम द्वारा या न्यायपूर्वक दान-ग्रहण द्वारा किसीको कोई द्रव्य नहीं मिले, तब तक उस द्रव्यपर उसका अधिकार नहीं है।

(६) अपरिग्रह—अन्धे-लङ्गड़े, अपङ्ग या असमर्थ व्यक्ति ही भिक्षाके अधिकारी हैं। जो समर्थ हैं, जिसमें योग्यता है, उन्हें न्यायपूर्वक परिश्रम द्वारा द्रव्य-संग्रह करना चाहिए। ऐसे लोगोंका भिक्षा माँगना ही परिग्रह है। ऐसा नहीं करना ही अपरिग्रह है।

(७) दया—जीव मात्रपर दया करनी चाहिए। उपयुक्त और उचित दया ही वैध दया है। रागतत्त्व सम्बन्धी दयाविचार पृथक् रूपमें अन्यत्र किया जाएगा। केवल मनुष्य जातिके प्रति ही दया करनी चाहिए, पशुओंके प्रति निर्दयताका व्यवहार करना चाहिए—यह सिद्धान्त विरुद्ध है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि मनुष्येतर प्राणियोंपर भी दया करना कर्त्तव्य है। किसीके दुःखको देखकर उसके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए तथा ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे किसीको भी दुःख हो।

(८) वैराग्य—शम, दम, तितिक्षा और उपरति द्वारा विषयासक्ति दूर होनेपर वैराग्य-दमनका नाम शम है। बाहरी इन्द्रियोंके दमनका नाम दम है। कुवासना-कष्ट सहन करनेके अभ्यासको तितिक्षा कहते हैं। साधारण विषय-पिपासाको परित्याग करनेको उपरति कहते हैं।

वैराग्य पुण्यजनक कार्य है। वैराग्य रहनेसे पाप नहीं होता। विधिपूर्वक क्रमशः वैराग्यधर्मका अभ्यास करना चाहिए।

रागमार्गमें सहज ही वैराग्य उपस्थित हो जाता है। उसके लिए पृथक् चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इस विषयमें अन्यत्र विचार किया जाएगा। वैराग्यका अभ्यास करना पुण्य-कर्म है। चातुर्मास्य, दर्श (अमावस्याके दिन होनेवाला एक यज्ञ), पौर्णमासी आदि शारीरिक व्रतोंका पालन करनेसे वैराग्यका अभ्यास होता है। पहले भोजन और शयन सम्बन्धी सुखकी कामनाओंका क्रमशः त्याग करके अन्तमें समस्त प्रकारके सुखाभिलाषको छोड़कर केवलमात्र जीवन-धारणके उपयोगी कमसे कम विषयोंको ग्रहण करनेका अभ्यास जब पूर्ण हो जाता है, तब वैराग्य अभ्यस्त हो जाता है। वैराग्यका अभ्यास हो जानेपर चतुर्थाश्रमरूप संन्यासमें अधिकार उत्पन्न होता है।

(९) सत्शास्त्रोंका सम्मान—सत्शास्त्रोंका आदर करना सबका कर्त्तव्य है। सत्-असत्का विवेचन करके लोक-समाजके कल्याणके लिए जो लिपिबद्ध होता है, उसे शास्त्र कह सकते हैं। जिन लोगोंने सुयोग्यता अर्जन करके शास्त्र-रचनाकी है, उनके रचित शास्त्र सुशास्त्र हैं। जो योग्य नहीं होनेपर भी विधि-निषेधकी व्यवस्था अथवा परमार्थका विचार करनेमें तत्पर होकर शास्त्र लिखे हैं, उन्होंने असत् परामर्श देकर असत्शास्त्र प्रकाशित किए हैं। जिन शास्त्रोंमें अयुक्तिसङ्गत और नास्तिक मत देखा जाए, वे शास्त्र असत् तर्कमूलक हैं। उनका सम्मान करना उचित नहीं है। कोई एक अन्धा दूसरे अन्धेका मार्ग प्रदर्शन करे, तो दोनों ही अन्धे जैसे गड्ढेमें या कुएँमें गिर पड़ते हैं, उसी तरह असत्शास्त्रोंके प्रणयन करनेवाले और उनके अनुयायी दोनों ही कुमार्गी एवं शोचनीय हैं। सत्शास्त्रसे वेद और वेदानुगत शास्त्रोंको समझना चाहिए। शास्त्रोंका स्वयं स्वाध्याय करना तथा दूसरोंको भी उसकी शिक्षा देना पुण्य कर्म है।

(१०) तीर्थ-भ्रमण—तीर्थ-भ्रमणसे अनेक विषयोंका ज्ञान होता है तथा अनेक कुसंस्कार दूर हो जाते हैं।

(११) सुविचार—सद्विचार या विवेकके लिए सर्वदा चेष्टा करनी चाहिए। जगत क्या है? मैं कौन हूँ? जगतकी सृष्टि किसने की है?

हमारा कर्त्तव्य क्या है? उस कर्त्तव्यका पालन करनेसे हमें क्या लाभ होगा? इस प्रकारका विवेक जिसे नहीं है, उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता। पशु और मनुष्यमें केवल यही भेद है कि पशु सद्विचार शून्य होते हैं, परन्तु मनुष्य सद्विचार करनेमें समर्थ है। सद्विचारका फल है—आत्मबोध।

(१२) शिष्टाचार—शिष्टाचार पुण्यजनक कार्य है। पूर्ववर्ती सन्त-महात्माओंने जिन आचरणोंका स्वयं पालन किया है और दूसरोंको पालन करनेका उपदेश दिया है, वे सब शिष्टाचार हैं।[१०] समय-समयपर शिष्टाचारमें संशोधन, परिवर्द्धन और परिवर्त्तन भी होता है। जैसे सत्य, त्रेता और द्वापर युगमें शिष्ट लोगों द्वारा यज्ञादिके समय गोवधादि कार्य परिलक्षित होते थे, कलियुगमें उनका विधान नहीं है। सद्विचार द्वारा पूर्व कालकी विधियों एवं आचारोंकी भलीभाँति परीक्षा करके उनको शिष्टाचारके रूपमें ग्रहण करना कर्त्तव्य है।

पात्रके भेदसे मर्यादा—पात्रके तारतम्यानुसार लोगोंका सम्मान करना एक प्रधान शिष्टाचार है। इसको हम मर्यादा कह सकते हैं। मर्यादा भङ्ग करनेसे महदतिक्रमका दोष लगता है। निम्नलिखित क्रमानुसार मर्यादा करनी चाहिए। जैसे, साधारणतः सब लोग मनुष्यमात्रकी मर्यादा करेंगे। उसमें भी सभ्य, विद्वान् तथा सद्गुणसम्पन्न मनुष्योंकी मर्यादा अधिक रूपमें करनी चाहिए। इस प्रकार क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सर्वश्रेष्ठ मर्यादा भगवद्भक्तोंकी करनी चाहिए। इस विधिके अनुसार ब्राह्मणों तथा वैष्णवोंकी मर्यादा सर्वत्र ही परिलक्षित होती है—

(१) साधारण रूपसे मनुष्यमात्रकी मर्यादा।

(२) सभ्यताकी मर्यादा। इसके अन्तर्गत राज-मर्यादा भी है।

(३) पद-मर्यादा।

(४) विद्या-मर्यादा।

---

[१०] तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥
ताननादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः॥
(श्रीमद्भा. ४/१८/४-५)

(५) सद्गुण-मर्यादा। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण, संन्यासी और वैष्णव मर्यादा है।

(६) वर्ण-मर्यादा।

(७) आश्रम-मर्यादा।

(८) भक्ति-मर्यादा।

पद-मर्यादासे राजा आदिका सम्मान, विद्या-मर्यादासे विद्वानोंका सम्मान, वर्ण-मर्यादासे ब्राह्मणका सम्मान, आश्रम-मर्यादासे संन्यासीका सम्मान और भक्ति-मर्यादासे यथार्थ भगवद्भक्तोंका सम्मान समझना चाहिए।

(१३) इज्या—इज्याका अर्थ है—भगवान्‌की पूजा। भगवान्‌की पूजा सबके लिए पुण्यजनक कर्म है। समस्त प्रकारकी विधियोंमें इज्याको सर्वश्रेष्ठ विधि जानना चाहिए।

(१४) अधिकार-निष्ठा—अधिकार भेदसे इज्याका आकार भेद है। सत्‌कर्मको पुण्य तथा असत्‌कर्मको पाप कहते हैं। जो कुछ किया जाता है, उसे शास्त्रोंमें तीन भागोंमें विभक्त किया गया है। कर्म, अकर्म और विकर्म। पुण्यजनक कर्मोंको कर्म कहते हैं। जिसे न करनेसे दोष लगता है, उसे न करनेको अकर्म कहते हैं। तथा पापका नाम विकर्म है। पुनः कर्म तीन प्रकारके हैं—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। काम्य कर्म त्याज्य हैं। पितृतर्पण आदि कार्य[११] नैमित्तिक कर्म हैं। ईश्वर-उपासना नित्य-कर्म है। नित्य और नैमित्तिक कर्म ही पालनीय हैं।

---

[११] इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः॥
(श्रीमद्भा. ११/१९/२३)

तृतीय धारा
कर्माधिकार और वर्ण-विचार

अधिकार-निर्णय

अधिकार-निर्णय एक प्रधान न्यायाचरण है। योग्यताका नाम अधिकार है। योग्यता दो प्रकारकी होती है—(१) किस कर्ममें कितनी योग्यता चाहिए और (२) उस कर्ममें उसकी कितनी योग्यता है? सब लोग सभी पुण्य कर्मोंको करनेके लिए योग्य नहीं होते। कोई व्यक्ति किसी एक पुण्य कार्यको करनेमें योग्य होता है, तो दूसरा दूसरे पुण्य कार्यको करनेमें योग्य होता है। यदि पहले व्यक्तिको उसकी योग्यताके प्रतिकूल दूसरे पुण्य कार्यमें लगा दिया जाए, तो वह उसे सुचारु रूपसे पूर्ण करनेमें असफल रहता है। अतएव योग्यताका विचार किए बिना यदि कोई व्यक्ति किसी कार्यको करता है, तब वह कार्य पूरा होगा या नहीं, अथवा उस कार्यका अभिलषित फल होगा या नहीं—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इसलिए सबसे पहले अधिकारका निर्णय होना आवश्यक है। कार्यकर्त्ता स्वयं अपना अधिकार निर्णय नहीं कर सकता। इसलिए उसे उपयुक्त गुरुसे सबसे पहले अपने अधिकारके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनी चाहिए। उपदिष्ट कर्मको करनेके समय पुरोहितसे विधि या प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए। इसीलिए लोग उपयुक्त गुरु और पुरोहितका वरण करते हैं। आजकल जिस पद्धतिसे गुरु और पुरोहित वरण किए जाते हैं, वह शास्त्रानुमोदित नहीं है। नाममात्रके लिए गुरु और नाममात्रके लिए पुरोहित वरण करना निरर्थक है। ग्रामके किसी विशेष योग्य व्यक्तिका ही वरण करना चाहिए। यदि अपने ग्राममें कोई ऐसा व्यक्ति न मिले, तो दूसरे ग्राममें भी ढूँढकर योग्य व्यक्तिका ही वरण करना चाहिए। कर्मकी योग्यता

कैसी होती है, इसको उदाहरणके द्वारा शिक्षा देनी चाहिए, अन्यथा वह बोधगम्य नहीं होगा। तालाब या पुष्करिणी खोदना-खुदवाना एक पुण्यजनक कार्य है। यदि कोई व्यक्ति स्वयं खोदना चाहता है, तो उसके पास उपयुक्त रूपमें शरीर बल, अस्त्रादि, भूमि और लोक-बल आदिका रहना ही उसकी योग्यता या अधिकार है। यदि अर्थ-व्यय करके खुदवाना है, तो अर्थ रहना चाहिए। जिस परिमाणमें शरीर बल, अस्त्रादि, भूमि और लोकबल अथवा अर्थ उसके पास है, उसी परिमाणमें उसका उस कर्ममें अधिकार है। अनधिकारी व्यक्तिको कोई फल नहीं मिलता, उल्टे कर्म करनेसे भी प्रत्यवाय[१] होता है। विवाह-कार्यमें शरीरकी योग्यता, संसार-निर्वाहका सामर्थ्य और दाम्पत्य-धर्म निर्वाहोपयोगी मानस-संस्कार इत्यादि योग्यताकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कोई भी कार्य करनेसे पहले योग्यता या अधिकारका निर्णय कर लेना चाहिए।

स्वभाव-निर्णय

अधिकार दो प्रकारके होते हैं—(१) स्वभावगत अधिकार और (२) अवस्थागत अधिकार। मनुष्य जीवनको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—शिक्षा-काल, कार्य-काल और विश्रामकाल। जब तक मनुष्य विद्योपार्जन करता है, तब तकका समय शिक्षा-काल है। इस समय ग्रन्थ अध्ययन, सङ्ग और दूसरोंके कर्म आदिको देखकर तथा उपदेश ग्रहण करके जो प्रवृत्ति जिस व्यक्तिमें प्रबल हो उठती है, उसी प्रवृत्तिको उस व्यक्तिका स्वभाव कहते हैं। जिस वंशमें जन्म होता है, उसी वंशके अनुसार ही साधारणतः आलोचना, सङ्ग और उपदेश प्राप्त होनेके कारण विभिन्न लोगोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकारका देखा जाता है। परन्तु कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। ऐसी दशामें शिक्षा-काल समाप्त होनेपर कार्य-कालके प्रारम्भमें जिस व्यक्तिमें जो स्वभाव लक्षित होता है, वही उसका स्वभाव है। विज्ञानके आधारपर विषयोंका विभाग करनेवाले चिन्ताशील

---

[१] कर्म न करनेपर जो पाप लगता है, उसे प्रत्यवाय कहते हैं।

पुरुषोंने चार प्रकारके स्वभाव बतलाये हैं—(१) ब्रह्म-स्वभाव, (२) क्षत्र-स्वभाव, (३) वैश्य-स्वभाव और (४) शूद्र-स्वभाव।[२]

(१) ब्रह्म-स्वभाव—जिस स्वभावसे अन्तरेन्द्रियोंका निग्रह, बाह्य-इन्द्रियोंका दमन, सहिष्णुता, शुद्धाचार, क्षमा, सरलता, ज्ञानकी आलोचना और ईश्वर-आराधना आदि विषयोंमें प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस स्वभावको ब्रह्म-स्वभाव कहा गया है।

(२) क्षत्र-स्वभाव—जिस स्वभावसे वीरता, तेज, धारणा शक्ति, दक्षता, युद्धमें निर्भयता, दान, जगत रक्षा, जगत-शासन और ईश्वर-पूजन आदिकी ओर प्रवृत्ति होती है, उसे क्षत्र-स्वभाव कहा जाता है।

(३) वैश्य-स्वभाव—जिस स्वभावसे कृषि-कार्य, पशुपालन तथा वाणिज्य-व्यवसाय आदिमें प्रवृत्ति उदित होती है, उस स्वभावको वैश्य-स्वभाव कहते हैं।

(४) शूद्र-स्वभाव—जिस स्वभावसे केवल दूसरोंकी सेवा द्वारा जीविका-निर्वाहकी प्रवृत्ति उदित होती है, उसे शूद्र-स्वभाव कहते हैं।

अन्त्यज-स्वभाव—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके विचारसे रहित, आचरणसे विरत, सर्वदा कलहप्रिय, अतिशय स्वार्थपर, उदर-सर्वस्व, विवाह-विधि-रहित व्यक्तियोंका स्वभाव ही अन्त्यज-स्वभाव है। ऐसे स्वभावका परित्याग किए बिना मनुष्य स्वभाव नहीं होता। इसलिए मनुष्य-स्वभाव केवल चार प्रकारके ही माने गए हैं।

---

[२] शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दयासत्यं ब्रह्म प्रकृतयस्त्विमाः॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्य क्षत्र प्रकृतयस्त्विमाः॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदंभो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्य प्रकृतयस्त्विमाः॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानाञ्चप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्र प्रकृतयस्त्विमाः॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/१६-१९, २१)

स्वभावके अनुसार वर्ण-निरूपण

स्वभावके अनुसार ही प्रवृत्ति या गुण होता है। इसलिए तदनुसार ही कर्म करना चाहिए। स्वभावके विरुद्ध कर्म करनेसे वह कर्म फलप्रद नहीं होता। स्वभावके किसी अंशको ही अंग्रेजी भाषामें जिनियस (genius) कहते हैं। परिपक्व स्वभावको बदल देना सहज नहीं है। इसलिए स्वभावके अनुसार ही कर्म करते हुए जीविका-निर्वाह और परमार्थके लिए चेष्टा करनी चाहिए। भारतवर्षके मनुष्य चार प्रकारके स्वभाव भेदसे चार वर्णोंमें विभक्त हैं। वर्ण-विभागकी विधियोंका पालन करते हुए समाजमें स्थित होनेपर सब प्रकारकी सामाजिक क्रियाएँ स्वाभाविक रूपसे ही फलवती हो जाती हैं तथा जगतका सर्वाङ्गीण कल्याण होता है। जिस समाजमें वर्ण-विभाग-विधि प्रचलित है, उस समाजकी भित्ति ठोस विज्ञानपर आधारित है तथा वह समाज मानव जातिके लिए पूजनीय है।

कुछ लोग ऐसा सन्देह कर सकते हैं कि यूरोप और अमेरिकामें कहीं भी वर्ण-विभाग आदि विधियाँ प्रचलित नहीं हैं, फिर भी वहाँके लोग अर्थ एवं विज्ञान आदि सभी विषयोंमें सर्वश्रेष्ठ एवं पूजनीय हैं; अतएव वर्ण-विधिको स्वीकार करना व्यर्थ है। परन्तु उनका ऐसा सन्देह निरर्थक है; क्योंकि यूरोपीय जातियाँ अत्यन्त नवीन और आधुनिक हैं। आधुनिक जातियोंके लोग प्रायः अधिक बलवान और साहसी होते हैं। वे उस साहस और बलसे प्राचीन जातियोंके संग्रहीत विद्या, विज्ञान और कला-कौशलसे कुछ-कुछ ग्रहण करके जगतमें अनेक प्रकारका कार्य कर रहे हैं। क्रमशः कुछ दिन बीतनेपर ये नयी जातियाँ ठोस विज्ञानके आधारपर प्रतिष्ठित समाज-व्यवस्थाके अभावमें सर्वथा लुप्त हो जाएँगी। भारतीय आर्य जातिमें वर्ण-व्यवस्था विद्यमान रहनेसे ही इस वार्द्धक्य एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें भी उसमें जाति-लक्षण प्रकाशित हो रहे हैं। किसी समय रोम और ग्रीक जातियाँ इन आधुनिक यूरोपीय जातियोंसे भी बल और वीर्यमें कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हुई थीं। परन्तु आज उनकी क्या दशा है? आज वे अपने जाति-लक्षणसे रहित होकर अन्यान्य आधुनिक जातियोंके धर्म और लक्षणको ग्रहण करके अपनी पूर्वावस्थासे सर्वथा भिन्न रूपमें

बदल गई हैं। यहाँ तक कि उन जातियोंके वर्त्तमान लोग अपने वीर पूर्वपुरुषोंकी वीरता आदिपर गर्व तक नहीं करते। यद्यपि हमारे देशकी आर्य-जाति रोम और ग्रीक जातियोंसे न जाने कितनी अधिक प्राचीन है, तथापि इस आर्य जातिके लोग आज भी अपनी जातिके पूर्वजों शूरवीर पुरुषोंके ऊपर गर्व करते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि केवल वर्णाश्रम-व्यवस्था सुदृढ़ रहनेके कारण उनका जाति-लक्षण दूर नहीं हो पाया है। म्लेच्छों द्वारा पराजित राणाओंके वंशज आज भी अपनेको श्रीरामचन्द्रजीका वीर-वंशज मानते हैं। जातिकी वार्द्धक्य-दशासे भारतवासी जितने भी पतित क्यों न हों, जब तक उनमें वर्ण-व्यवस्था प्रचलित रहेगी, तब तक वे आर्य ही रहेंगे, वे कदापि अनार्य नहीं हो सकेंगे। रोमन आदि यूरोपीय आर्य वंशीय लोग हान और भाण्डाल आदि अन्त्यज जातियोंके लोगोंके साथ मिलजुलकर एक हो गए हैं। यूरोपीय जातियोंके वर्त्तमान समाजका अध्ययन करनेपर हम देख पाएँगे कि उस समाजमें जो कुछ सौन्दर्य है, वह केवलमात्र कुछ-कुछ स्वभावजनित वर्ण-धर्मको धारण करनेसे ही है। यूरोपमें जो व्यक्ति वणिक् स्वभावके हैं, वे वाणिज्य-व्यवसायको ही अच्छा मानते हैं और उसीके द्वारा ही उन्नति साधन कर रहे हैं। जो व्यक्ति क्षत्रिय-स्वभावके हैं, वे सैनिक बनना ही पसन्द करते हैं, तथा शूद्र-स्वभाववाले व्यक्ति साधारणतः सेवा-कार्यको ही श्रेष्ठ समझते हैं। वास्तवमें कुछ-न-कुछ अंशोंमें वर्ण-धर्मको अपनाए बिना कोई भी समाज टिक नहीं सकता। विवाह आदि क्रियाओंमें भी वर्णोपयोगी ऊँच-नीच अवस्था और स्वभावकी परीक्षाकी जाती है। यूरोप आदिमें वर्ण-धर्म आंशिक रूपमें गृहीत होनेपर भी वह वैज्ञानिक भित्तिके ऊपर प्रतिष्ठित सम्पूर्ण आकारको प्राप्त नहीं है। वहाँ सभ्यता और ज्ञानकी जितनी उन्नति होगी, वर्ण-धर्म भी उतना ही पूर्णताकी ओर अग्रसर होगा। सभी क्रियाओंमें दो प्रकारकी प्रणालियाँ कार्य करती हैं—अवैज्ञानिक प्रणाली और वैज्ञानिक प्रणाली। किसी भी कार्यमें जब तक वैज्ञानिक प्रणालीको अपनाया नहीं जाता, तब तक वहाँ अवैज्ञानिक प्रणालीसे ही कार्य होता है। उदाहरणके लिए पहले जब तक वैज्ञानिक प्रणालीसे

जलयान प्रस्तुत नहीं हुए थे, तब तक अवैज्ञानिक नौकाओंके द्वारा ही जल-यात्राएँ हुआ करती थीं; परन्तु वैज्ञानिक जलयानोंका निर्माण होते ही अब जल-यात्राएँ इन वैज्ञानिक जल-यानोंके (जहाजोंके) द्वारा होती है। समाज भी उसी प्रकार है अर्थात् जिस देशमें जब तक वर्ण-व्यवस्थाका सुचारु रूपसे प्रचलन नहीं हो जाता, तब तक एक अवैज्ञानिक प्राथमिक अवस्था ही उस देशके समाजकी परिचालना करती है। आजकल भारतवर्षको छोड़कर संसारके सभी देशोंमें वर्ण-व्यवस्थाकी प्राथमिक अवस्था ही वहाँके समाजकी परिचालना करती है। इसीलिए भारतको कर्मक्षेत्र कहा गया है।

भारतमें वर्त्तमान वर्णाश्रम-विधिकी अवस्था

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या आजकल भारतमें वर्ण-व्यवस्था ठीक-ठीक रूपमें चल रही है? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। यह वर्ण-व्यवस्था भारतमें पूर्णावस्थामें प्रतिष्ठित होकर भी अन्तमें उसमें कुछ रोगोंके लग जानेके कारण ही भारतकी कुछ अवनति दृष्टिगोचर होती है। वह रोग क्या है? यही विवेचनाका विषय है।

त्रेतायुगके प्रारम्भमें आर्य जातिकी उन्नति चरमावस्थाको पहुँच चुकी थी। उसी समय वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी स्थापना हुई।[३] उस समय ऐसी विधि बनाई गई कि हर व्यक्ति अपने स्वभावके अनुसार वर्णको प्राप्त करेगा और उसे उस वर्णके अनुसार अधिकार प्राप्त करके उस वर्णके लिए निर्दिष्ट किए गए कर्मको ही अपनाना होगा। श्रम-विभाग

---

[३] आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः॥
वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥
त्रेतायुगे महाभाग प्राणन्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादूरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः॥
विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१७/१०-१३)

विधि और स्वभाव-निरूपण विधि द्वारा जगतके कर्म बड़े ही सुचारु ढङ्गसे परिचालित होते थे। जिसके पिताका कोई वर्ण नहीं होता था, उसके केवल स्वभावको परखकर ही उपयुक्त वर्णमें शामिल कर लिया जाता था। जाबाली और गौतम, जनश्रुति और चित्ररथ आदिका वैदिक इतिहास ही इसका साक्षी और उदाहरण है। जिनके पिताका वर्ण निर्दिष्ट था, उनके स्वभाव और वंश दोनोंके प्रति दृष्टि रखकर ही वर्णका निर्णय होता था। नरिष्यन्त वंशमें अग्निवेश्य स्वयं जातुकर्ण नामक महर्षि हुए हैं। उन्हींसे अग्निवेश्यायन नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण-वंशकी उत्पत्ति हुई है। ऐल वंशमें होत्रके पुत्र जहनुने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है। भरत वंशमें उत्पन्न भरद्वाज (जिनका नाम वितथ राजा था) के वंशमें नरादिकी सन्तान क्षत्रिय और गर्गकी सन्तान ब्राह्मण हुए। भर्यस्व राजाके वंशमें मौद्गल्य गोत्रीय शतानन्द और कृपाचार्य आदि ब्राह्मण उत्पन्न हुए। शास्त्रमें ऐसे-ऐसे असंख्य उदाहरण हैं, जिनमेंसे मैंने केवल दो-चारका ही उल्लेख किया। जिस समय वर्ण-व्यवस्था ऐसी सुन्दर और संस्कृत रूपमें प्रचलित थी, उस समय भारतका यशसूर्य मध्याह्न रविकी भाँति पृथ्वीमें सर्वत्र ही अपनी प्रभाका विस्तार कर रहा था। संसारके सारे देश भारतवासियोंको राजा, दण्डदाता और गुरु मानकर पूजते थे। मिस्र और चीन आदि देशोंके लोग उस समय श्रद्धा एवं भयसे भारतवासियोंके उपदेश सुना करते थे।

वर्ण-व्यभिचार

पूर्वोक्त वर्णाश्रमधर्म भारतमें बहुत समय तक विशुद्ध रूपमें चलता रहा। पश्चात् कालक्रमसे क्षत्र-स्वभाव जमदग्नि और उनके पुत्र परशुराम अवैध रूपसे ब्राह्मणके रूपमें स्वीकृत होनेपर उन्होंने अपने स्वभावविरुद्ध ब्राह्मणत्वका त्यागकर ब्राह्मण और क्षत्रियोंके बीच स्वार्थवश कलह पैदाकर शान्ति भङ्ग की थी। इस परस्पर कलहका दुष्परिणाम यह हुआ कि जन्मगत वर्ण-व्यवस्था क्रमशः जोर पकड़ती गई। कुछ समय पश्चात् मनु-स्मृति आदि शास्त्रोंमें भी इस अस्वाभाविक जन्म-प्रधान वर्ण-व्यवस्थाका गुप्त रूपसे प्रवेश होनेपर उच्च वर्ण-प्राप्तिकी आशासे रहित होनेपर क्षत्रियोंने विद्रोह किया। वे

बौद्ध धर्मकी सृष्टिकर ब्राह्मण आदिका ध्वंस करनेके लिए जी-जानसे तत्पर हो गए। जिस समय जो क्रिया या मत-मतान्तर प्रचलित या उत्पन्न होते हैं, उनकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही बलवती होती है। जब वेद-विरोधी बौद्ध-धर्म ब्राह्मण आदिके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ, तब जन्मगत वर्ण-व्यवस्था सहज ही दृढ़तर होती चली गई। एक ओर कुव्यवस्था और दूसरी ओर स्वदेशनिष्ठा—इन दोनों भावोंमें परस्पर विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसने क्रमशः भारतवासी आर्य सन्तानको नष्ट-प्राय कर दिया।

स्वभावहीनता ही वर्ण-विशृंखलताका मूल कारण है

ब्रह्म-स्वभाव-विहीन नाममात्रके ब्राह्मणोंने स्वार्थपर धर्म-शास्त्रोंकी रचनाकर दूसरे वर्णोंको ठगना आरम्भ कर दिया। क्षत्र-स्वभाव विहीन क्षत्रियगण युद्धसे विमुख होकर राज्यसे च्युत होने लगे और अन्तमें तुच्छ और हेय बौद्ध धर्मका प्रचार करने लगे। वणिक् स्वभावरहित वैश्यगण जैनादि धर्मोंका प्रचार करने लगे। ऐसी दशामें भारतका संसार-व्यापी व्यापार धीरे-धीरे नष्ट होने लगा और शूद्र-स्वभाव विहीन शूद्रगण अपने स्वभावानुकूल कार्य न पानेके कारण दस्युप्राय हो गए। इससे वेदादि सत्शास्त्रोंकी चर्चा क्रमशः बन्द हो गई। म्लेच्छ देशके शासकोंने मौका देखकर भारतपर आक्रमण करके उसे अपने अधिकारमें दबोच लिया। जल-यान आदिका व्यवहार बन्द हो गया। सेवा भी उचित रूपसे नहीं हुई। इस प्रकार कलिका अधिकार प्रगाढ़ हुआ।[४] हाय! जो भारतीय आर्यजाति एक दिन पृथ्वीकी सारी जातियोंका शासक और गुरु थी, आज उसकी यह दुर्दशा! इसका

---

[४] गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता॥
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः।
देवमाया विमूढ़ांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया॥
आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/३८-४०)

कारण इस जातिका वार्द्धक्य नहीं है, बल्कि वर्ण-व्यवस्थामें नाना प्रकारके दोष आ जानेके कारण उसका क्रमशः शिथिल होना ही है। जो सर्वजीवों एवं समस्त विधियोंके मूल नियन्ता हैं और जो सब प्रकारके अमङ्गलोंको दूरकर मङ्गल करनेमें समर्थ हैं, उन सर्वेश्वरेश्वर प्रभुकी इच्छा होनेपर कोई शक्त्याविष्ट पुरुष पुनः यथार्थ वर्णाश्रमधर्मकी प्रतिष्ठा करेंगे। पुराणोंके रचयिता भी हमारी तरह आशा लगाए श्रीकल्किदेवके आविर्भावकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मरु और देवापि राजाके उपाख्यानमें ऐसी ही प्रतीक्षा दृष्टिगोचर होती है। अब प्रकृत विधिका विचार किया जाए।

वर्णके अनुसार कर्म-व्यवस्था

किस वर्णका किस कर्ममें अधिकार है, उसका धर्मशास्त्रमें विस्तारसे उल्लेख है। इस ग्रन्थमें उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना असम्भव है। अतिथियोंको अन्न-दान, पवित्रताके लिए दिनमें तीन बार स्नान, देव-देवियोंकी पूजा, वेद-पाठ, उपदेश देना, पौरोहित्य करना, उपनयन आदि व्रत, ब्रह्मचर्य और संन्यास—इन कर्मोंमें केवल ब्राह्मणका अधिकार है। धर्म-युद्ध, राज्य-शासन, प्रजा-रक्षण और बड़े-बड़े दान आदि कर्मोंमें क्षत्रियका अधिकार है। पशु-पालन और व्यापार आदि कर्मोंमें वैश्योंका अधिकार है। बिना मन्त्र देव-सेवन और तीनों वर्णोंके विविध प्रकारके सेवा-कार्योंमें शूद्रका अधिकार है। विवाहादि व्रत, ईशभक्ति, परोपकार, साधारण दान, गुरुसेवा, अतिथिसत्कार, पवित्रता, महोत्सव, गोसेवा, जगत्-वृद्धिकरण और न्याय-आचरण आदि कर्मोंमें सभी वर्णोंके सभी स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। पति सेवाकार्यमें स्त्रियोंका विशेष अधिकार है। मूल-विधि यह है कि जिस व्यक्तिका जैसा स्वभाव है, उस स्वभावके उपयोगी कर्मोंमें ही उसका अधिकार है। सभी लोग सरल बुद्धि द्वारा अपने-अपने कर्माधिकारको स्थिर कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करनेमें असमर्थ हो, तो वह उपयुक्त गुरुसे पूछकर अपना कर्माधिकार स्थिर करे। निर्गुण वैष्णवगण इस विषयमें अधिक जाननेकी इच्छा करनेपर श्रीमद्गोपालभट्ट गोस्वामीकृत सत्-क्रियासार-दीपिका ग्रन्थका अध्ययन करेंगे।

चतुर्थ धारा
आश्रमविचार

वर्ण और आश्रम

मनुष्यके स्वभावसे कर्मका जन्म होता है। मनुष्यके आश्रममें कर्मकी स्थिति है। जो मनुष्य जिस आश्रममें अवस्थित होता है, उसी आश्रमके अनुसार वह कर्म करता है। इसलिए वर्ण और आश्रम, ये दोनों परस्पर अनुस्युत हैं। अतएव कर्मको वर्णाश्रमधर्म कहते हैं। आश्रम चार हैं—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ और (४) संन्यास।[१]

ब्राह्मण-स्वभाववाले ब्रह्मचारीका कृत्य

ब्राह्मण-स्वभावसम्पन्न व्यक्तियोंका ब्रह्मचर्यमें अधिकार है। संयत चित्तसे, शुद्धाचारके साथ, अत्यन्त नम्र भावसे, नाना प्रकारके शारीरिक क्लेशोंको स्वीकारपूर्वक गुरुकुलमें वास करते हुए अध्ययनकी समाप्ति तक ब्रह्मचर्यका अवलम्बन करना चाहिए। अध्ययन समाप्त

---

[१] विप्रस्याध्ययनादीनि षड़न्यस्याप्रतिग्रहः ।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः॥
वैश्यस्तु वार्त्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्॥
वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत्।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम् ॥
वृत्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥
(श्रीमद्भा. ७/११/१४-१५, ३०, ३२)

होनेपर गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमति लेकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिए।

चारों वर्णोंका गृहस्थ-धर्म

मुरारी गुप्तकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार उल्लेख है—

प्रतिग्रह ना करे ना लय कार धन।
आत्मवृत्ति करि करे कुटुम्ब भरण॥

गृहस्थाश्रममें सभी वर्णोंका अधिकार है। ब्राह्मणगण ब्रह्मचर्यके पश्चात् गृहस्थाश्रमको स्वीकार करते हैं, क्षत्रियगण अल्प परिमाणमें उपयुक्त शास्त्रोंका अध्ययन करके गुरुकुलसे लौटकर गृहस्थाश्रम ग्रहण करते हैं। वैश्यगण पशु-पालन, वाणिज्य और कृषि-कार्योपयोगी वेदविद्याका अध्ययनकर गृहस्थ होते हैं। शूद्रगण उपयुक्त आयु होते ही गृहस्थ हो सकते हैं। किस व्यक्तिका किस वर्ण-धर्ममें अधिकार है, इस विषयमें पिता, कुलपुरोहित, समाजके विशिष्ट व्यक्ति और भूस्वामी—ये लोग मिलकर उस बालकका अध्ययन काल उपस्थित होनेपर विचारकर स्थिर करेंगे। जिस बालकका जैसा स्वभाव लक्षित हो, उसे उसीके अनुरूप अध्ययन आदि कार्यमें नियुक्त करना चाहिए। जिनकी अध्ययन-कार्यमें नितान्त रुचि नहीं है, अथवा सेवा-कार्यमें स्पृहा और दक्षता है, उन्हें अध्ययन-कार्यमें नियुक्त करना निष्फल है। उन्हें शूद्र जानकर सेवा-कार्यमें ही पटु होनेके लिए सुयोग प्रदान करना चाहिए।

गृहस्थ होनेके लिए सबसे पहले अर्थ-उपार्जन करना आवश्यक है। भिन्न-भिन्न वर्णवालोंके अर्थोपार्जनके लिए अलग-अलग उपाय निर्दिष्ट हैं। यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—ये छः कर्म ब्राह्मणके लिए निर्दिष्ट हैं। इनमेंसे वे लोग याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह द्वारा अर्थ उपार्जन करेंगे तथा यजन, अध्ययन और दान द्वारा सांसारिक अवस्थामें उसका व्यय करेंगे। क्षत्रियगण कर-शुल्क

आदि ग्रहण और अस्त्र-व्यवसाय आदि द्वारा धनोपार्जन करके संसार-पालन और जीविका निर्वाह करेंगे। वैश्यगण पशु-पालन, वाणिज्य और कृषि-कार्य द्वारा तथा शूद्रगण तीनों वर्णोंकी सेवा द्वारा अर्थ-संग्रहपूर्वक जीविका-निर्वाह करेंगे। आपत्काल उपस्थित होनेपर ब्राह्मणगण क्षत्रिय और वैश्यके लिए निर्धारित व्यवसायको ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु विशेष विपत्तिकालमें भी उक्त तीन वर्णोंके लोग शूद्रका व्यवसाय ग्रहण नहीं करेंगे।

गृहस्थ व्यक्ति विधिपूर्वक विवाह करके सन्तान उत्पादन करेंगे। पिण्डदानके द्वारा पितरोंके प्रति कृतज्ञता स्वीकार, यज्ञ द्वारा देवताओंका पूजन, अन्नादिके द्वारा अतिथियोंका सत्कार तथा सत्य-व्यवहार द्वारा सब प्राणियोंका अर्चन करेंगे। परिव्राजक और ब्रह्मचारीगण केवल गृहस्थोंकी सहायतासे ही प्रतिपालित होते हैं। अतएव गृहस्थाश्रमको और आश्रमोंसे श्रेष्ठ माना गया है।

वानप्रस्थका कृत्य

वानप्रस्थ तृतीय आश्रम है। आयु ढल जानेपर पत्नीको पुत्रके पास रखकर अथवा सन्तान पैदा होनेकी सम्भावना न रहनेपर पत्नीको साथ लेकर वनमें गमनपूर्वक वानप्रस्थ आश्रमका अवलम्बन करना चाहिए।[२] वहाँ रहकर अपनी आवश्यकता एवं अभावका सर्वतोभावेन नियमन करना चाहिए। भूमिपर शयन, वृक्षके वल्कल द्वारा परिधेय और उत्तरीय ग्रहण, क्षौर-कार्य परित्याग, मुनि-वृत्ति अवलम्बन, त्रिसन्ध्या-स्नान, यथा साध्य अतिथिसेवा, फल-मूल भक्षण और निर्जन वनमें परमेश्वरकी आराधना—ये सब वानप्रस्थके कर्म हैं। सभी वर्णके लोग वानप्रस्थके अधिकारी हैं।

---

[२] वर्त्तमान कालमें वन-गमनका तात्पर्य उन भगवान्‌की लीलास्थलियों या तीर्थोंको समझना चाहिए, जहाँ ऐकान्तिक भगवद्भजनपरायण शुद्ध वैष्णवजन निरन्तर भगवत्-कथाके श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण आदिमें तत्पर रहते हैं।

संन्यासका कृत्य

संन्यास आश्रम चतुर्थ आश्रम है।[३] संन्यासीको भिक्षु या परिव्राजक कहते हैं। पूर्वोक्त तीनों आश्रमके व्यक्ति जब नितान्त वैराग्यपर, संसारमें ममताशून्य, सर्वकष्ट-सहिष्णु, तत्त्वज्ञ, जनसङ्गस्पृहा-रहित, ब्रह्मपर, निर्द्वन्द्व, सभी प्राणियोंमें सम बुद्धि, दयालु, निर्मत्सर और योगयुक्त हो जाते हैं, तब वे संन्यास आश्रम ग्रहण करनेके अधिकारी होते हैं। संन्यासीको एक ग्राममें एक रातसे अधिक नहीं ठहरना चाहिए। नगरमें पाँच रातसे अधिक नहीं ठहरना चाहिए। केवल चातुर्मास्यके समय किसी उपयुक्त स्थानपर विधिपूर्वक चार महीने तक निवास कर सकते हैं। प्रथम अवस्थामें केवल ब्राह्मणके घर भिक्षा ग्रहण करेंगे, ब्राह्मणके अतिरिक्त और किसी दूसरेको इस आश्रममें प्रवेश पानेका अधिकार नहीं है।

दुर्बल व्यक्तिके लिए आश्रम नहीं है

शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य रहित व्यक्ति किसी भी आश्रमके योग्य नहीं हैं। दुर्बलोंके लिए आश्रम नहीं हैं। वे आश्रमवासियोंके अनुग्रहसे जीवन-निर्वाह करेंगे। आश्रमीवासी वैसे असमर्थ लोगोंकी यथाशक्ति सहायता करेंगे।

स्त्रियोंके लिए उपयोगी आश्रम

स्त्रियाँ केवल गृहस्थाश्रममें रहेंगी। विशेष-अवस्थामें कोई-कोई स्त्रियाँ वानप्रस्थ आश्रम भी ग्रहण कर सकती हैं। इन दोनों आश्रमोंके अतिरिक्त दूसरे आश्रममें स्त्रियोंको प्रवेश नहीं करना चाहिए। यद्यपि कोई-कोई असाधारण शक्तिसम्पन्ना स्त्री विद्या, धर्म और सामर्थ्य प्राप्तकर ब्रह्मचर्य या संन्यास आश्रम अवलम्बनकर सफलता प्राप्त कर चुकी हैं अथवा सफलता प्राप्त कर सकती हैं, तथापि साधारणतः

---

[३] यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसंगोऽपरिग्रहः।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भैक्ष्यमिताशनः॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/३०)

कोमल श्रद्धा, कोमल शरीर और कोमल बुद्धिवाली स्त्री जातिके लिए यह विधि नहीं है।

गृहस्थ आश्रम ही साधारण व्यक्तियोंके लिए उपयोगी है

भलीभाँति विचार करनेपर देखा जाता है कि गृहस्थाश्रम ही एकमात्र आश्रम है। अन्यान्य तीनों आश्रम उसके आश्रयपर ही अवस्थित हैं। मानव जाति साधारणतः गृहस्थ है। विशेष अधिकार प्राप्त करनेपर कोई-कोई ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम ग्रहण किया करते हैं। ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम है। तथापि उन-उन आश्रमोंके कतिपय विशेष कर्माधिकार लक्षित होनेके कारण उन आश्रमोंका भेद प्रदर्शित न होनेपर समाजज्ञानकी तात्त्विक अवस्था सिद्ध नहीं होती।

धर्मशास्त्रसमूह

बीस धर्मशास्त्रों और पुराणादि स्मृतिशास्त्रोंमें गृहस्थ आश्रमकी विधियोंका विस्तृतरूपसे वर्णन किया गया है। गृहस्थको कब कौन-सा कार्य करना चाहिए और कौन-सा कार्य नहीं करना चाहिए—इस सम्बन्धमें विभिन्न मनुओं, ऋषियों और प्रजापतियोंने अपने-अपने शास्त्रोंमें विस्तृत रूपसे वर्णन किया है। उन्होंने उन शास्त्रोंमें गृहस्थोंके आह्निक, पाक्षिक, मासिक, षड्मासिक और वार्षिक सदाचारोंकी विधियों और कार्योंका उल्लेख किया है। वे विधियाँ अनेक हैं तथा देश और कालके अनुसार बदलने योग्य हैं। इसलिए उनका संक्षेपमें ही उल्लेख किया जाएगा।

पञ्चम धारा

आह्निक

गृहस्थके मानसिक और शारीरिक कर्त्तव्य

ब्राह्ममुहूर्त्तमें जागकर पारमार्थिक तथा लौकिक जिन-जिन कार्योंको दिन-रातमें करना है, उन्हें चिन्तापूर्वक स्थिरकर लेना चाहिए। बिछौना छोड़नेके पश्चात् उचित स्थानपर मल-मूत्र त्यागकर हाथ, मुख, नाक, आँख आदिको भलीभाँति जलसे साफ करना चाहिए। स्वच्छ निर्मल जलमें स्नान करके साफ-सुथरे कपड़े पहनने चाहिए। तदनन्तर अपने वर्णके अनुसार धनोपार्जनके कार्यमें लगना चाहिए। शरीरकी अवस्थाके अनुसार दोपहरमें स्नान करके ईशोपासना और तर्पणादि करना चाहिए। रसोई बन जानेपर कुछ प्राणियोंके लिए और कुछ पतित और अपात्रोंके लिए रखकर अतिथिको बुलाकर उसे यत्नपूर्वक भोजन कराना चाहिए। अपने गाँवके लोग अतिथि नहीं कहे जा सकते। दूरसे आनेवाले सम्बन्धहीन, अकिञ्चन, भोजनाभिलाषी व्यक्तिको अतिथि कहेंगे। अतिथिकी जाति-पाँति नहीं पूछनी चाहिए। निष्पाप ब्राह्मण उपस्थित होनेपर उसे भोजन कराना चाहिए। तत्पश्चात् गर्भिणी, आश्रित, वृद्ध और बालक—इन सबको भोजन कराकर स्वयं भोजन करना चाहिए। पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके भोजन करना चाहिए। विशुद्ध पात्रमें परोसा हुआ पवित्र, साफ-सुथरा, पापी व्यक्तियों द्वारा जो स्पर्श न किया गया हो और जो सुपथ्य हो, ऐसे भोज्य पदार्थको ग्रहण करना चाहिए। असमयमें भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन करनेके बाद भगवत्-चिन्तन करना चाहिए। आलस्य छोड़कर अल्प परिश्रम साध्य कार्योंको करना चाहिए। दिनका शेष भाग सत्शास्त्रोंके पठन-पाठनमें लगाना चाहिए। सायंकालमें

चित्तको एकाग्रकर सन्ध्यावन्दन करना चाहिए। शामको भी दोपहरकी भाँति अतिथि आदिकी सेवाके पश्चात् भोजन करना चाहिए। रातमें अतिथिको विश्रामका स्थान और बिछौना देना चाहिए। गृहस्थको साफ-सुथरे और कीटशून्य पलङ्गपर पूर्व या दक्षिण दिशामें सिर करके शयन करना चाहिए। पश्चिम या उत्तरकी ओर सिर करके सोनेसे रोग पैदा होते हैं। अवैध स्त्रीसङ्गसे दूर रहना चाहिए। संक्षेपमें गृहस्थ व्यक्तिको शारीरिक और मानसिक विधियोंका पालन करते हुए निष्पाप, अन्तःकरण द्वारा विशेष परिश्रमपूर्वक अर्थ-उपार्जन करके अपने पाल्यगण, गुरुजन, अतिथि और निराश्रितोंका भरण-पोषण करते हुए अपनी शरीर-यात्राका निर्वाह करना चाहिए।

निर्विघ्न रूपसे दैनिक कृत्यादि कर्त्तव्य

आह्निकतत्त्वमें जो विधियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे सब वर्त्तमान समयमें सम्पूर्ण रूपसे चल नहीं सकतीं। आजकल भारतमें जिस प्रकार विदेशी राजनीति और विदेशी व्यवहारोंका बोलबाला है, उसके कारण पहलेकी भाँति नियमोंका पालन करना अत्यन्त कठिन है। वर्त्तमान समयमें सभी कार्य दोपहरमें ही होते हैं। इसलिए आहारके पश्चात् ही धनोपार्जनके कार्योंमें लगना उचित है। समयके अनुसार आज भारतकी स्वास्थ्यनीति भी बदल गई है। इसलिए अधिक दिन चढ़े भोजन, त्रिसन्ध्या स्नान और रात्रि-जागरण आदि कार्य भी किसी प्रकारसे सम्भव नहीं हैं। महर्षियोंका मूल तात्पर्य यह है कि आहार, व्यवहार, स्नान और शयन आदि शारीरिक कार्योंको इस प्रकारसे करना चाहिए कि शरीर निरोग रहे तथा लौकिक और पारमार्थिक कार्य निष्पाप और निर्विघ्नरूपमें सम्पन्न हो सकें। इसलिए आश्रमवासी अपनी-अपनी अवस्थाका विचारकर निवृत्तिपरा श्रद्धाके साथ दैनिक कार्य सम्पन्न करेंगे।[१]

---

[१] प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्त्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्॥
हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
(श्रीमद्भा. ७/१५/४७-४८)

विभिन्न प्रकारके दैनिक कृत्य

शरीरनिष्ठ विधि, मनोनिष्ठ विधि, समाजनिष्ठ विधि और परलोकनिष्ठ विधि—ये सभी विधियाँ आह्निक कार्यमें पालित होंगी। प्रातःकालमें उठना, हाथ-मुख आदि धोना, उपयुक्त परिश्रम, स्नान, उपयुक्त समयमें बलकारक, स्वास्थ्यवर्द्धक तथा पुष्टिकर पदार्थोंका भोजन, स्वच्छ और पवित्र जल पान, भ्रमण और साफ-सुथरे वस्त्र-धारण, तीन पहर (९ घण्टा) से अधिक न सोना—इन दैनिक विधियोंका अवश्य ही पालन करना चाहिए। दिनकी कार्यचिन्ता, ध्यानशिक्षा, विषयविचार-शिक्षा, भूगोल, खगोल, इतिहास, ज्यामिति, गणित, साहित्य, पशुतत्त्व, रसायनतत्त्व, चिकित्सातत्त्व, पदार्थतत्त्व और जीवतत्त्व आदि विषयोंकी प्रयोजनके अनुसार आलोचनापूर्वक मनोनिष्ठ विधिका पालन करना चाहिए। न्यायपूर्वक धनोपार्जन, यथाशक्ति संसार-पालन, आवश्यकतानुसार सामाजिक क्रिया-साधन तथा जगदुन्नतिके कार्यमें यथासाध्य प्रयत्न आदि द्वारा दैनिक कार्योंको करना चाहिए। सन्ध्या-वन्दना आदि दैनिक पारलौकिक कार्योंको भी नियमित रूपसे करना चाहिए। अधिकांश कार्य दैनिक हैं; कुछ कार्य पाक्षिक हैं, कुछ मासिक और कुछ वार्षिक भी हैं। कुछ कार्य सामयिक हैं; जैसे विवाह, श्राद्ध आदि। सारे नित्य कर्म आह्निक या दैनिक हैं। नैमित्तिक कर्मोंके अन्तर्गत कुछ सम-सामयिक हैं और कुछ विषम-सामयिक हैं।

गृहस्थका जीवन सदा पवित्र, पुण्यमय और पापशून्य होना चाहिए। अब तक पुण्यमय जीवनकी व्यवस्था दिखलाई गई। अब पापशून्यकी शिक्षाके लिए प्रधान-प्रधान पापोंका विचार दिया जा रहा है।[२]

प्रधान-प्रधान पाप ग्यारह प्रकारके हैं—

(१) हिंसा या द्वेष, (२) निष्ठुरता, (३) क्रूरता या कुटिलता, (४) चित्त-विभ्रम, (५) झूठ, (६) गुर्ववज्ञा, (७) लाम्पट्य,

---

[२] स्तेयं हिंसाऽनृतं दंभः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्द्धा व्यसनानि च॥
एते पंचदशानर्था ह्यर्थमूलामता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
(श्रीमद्भा. ११/२३/१८-१९)

(८) स्वार्थ-सर्वस्वता, (९) अपवित्रता, (१०) अशिष्टाचार, और (११) जगन्नाशकार्य।

(१) नर-हिंसा और पशु-हिंसा

हिंसा तीन प्रकारकी होती है—नर-हिंसा, पशु-हिंसा और देव-हिंसा। दूसरोंको नष्ट करनेकी इच्छाको हिंसा कहते हैं। द्वेषसे हिंसा उत्पन्न होती है। किन्हीं-किन्हीं विषयोंके प्रति आसक्ति होनेको राग कहते हैं। किसी विषयमें विरक्ति होनेको द्वेष कहते हैं। उचित रागकी गणना पुण्यके अन्तर्गतकी गयी है। अनुचित रागको लाम्पट्य कहते हैं। द्वेष रागका विपरीत धर्म है। कुछ द्वेष उचित होते हैं; उनकी गणना पुण्यके अन्तर्गत की गई है। अनुचित द्वेष ही हिंसा और ईर्ष्याकी जड़ है। सबके साथ प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए, परन्तु पापी व्यक्ति इसके विपरीत आचरण द्वारा सबके प्रति ईर्ष्या और हिंसाका व्यवहार करते हैं। हिंसा—एक बड़ा पाप कार्य है। सबके लिए हिंसाका परित्याग करना उचित है। नर-हिंसा भयानक गुरुतर पाप है। जिस मनुष्यके प्रति हिंसा की जाती है, उस मनुष्यकी महानताके तारतम्यसे हिंसाका लघुत्व या गुरुत्वका विचार होता है। ब्राह्मण-हिंसा, बन्धु-बान्धवोंकी हिंसा, स्त्री-हिंसा, वैष्णव-हिंसा, गुरु-हिंसा—ये पापसमूह अधिक भयंकर होते हैं। पशु-हिंसा भी साधारण पाप नहीं है। उदर-परायण व्यक्ति अपने स्वार्थ और जिह्वा-लाम्पट्यके लिए जो पशु-हिंसा करते हैं या करवाते हैं—वह केवल नीच मुनष्योंकी पशुवृत्तिका परिचायक है। पशु-हिंसाको छोड़े बिना मनुष्यका स्वभाव उज्ज्वल नहीं होता।

वेदादि शास्त्रोंमें कहीं-कहीं जो पशु-यज्ञ और बलिदानकी व्यवस्था देखी जाती है, वह केवल उक्त पशु स्वभाववाले मनुष्योंकी वृत्तिको क्रमशः संकुचितकर उनसे निवृत्तिपरा बनानेके उद्देश्यसे है।[३] अतएव पशु-हिंसा पशुका धर्म है, मनुष्यका धर्म नहीं।

---

[३] लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-सुराग्रहैराशु निवृत्तिरिष्टा॥
यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशो रालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्यै इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥
(श्रीमद्भा. ११/५/११, १३)

देव–हिंसा—देव–हिंसा भी भयंकार पाप है। ईश्वरकी आराधनाके लिए भिन्न–भिन्न देशोंमें भिन्न–भिन्न प्रकारकी व्यवस्थाएँ निर्द्धारित की गई हैं। उन व्यवस्थाओंका पालन करनेसे परात्पर तत्त्वकी उपासनारूप परम धर्मकी प्राप्ति होती है। अनभिज्ञ और अतात्विक धर्मवादी व्यक्ति केवल अपनी व्यवस्थाको ही सर्वोत्तम बतलाकर दूसरे देशोंकी व्यवस्थाओंकी निन्दा करते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरे देशोंके धर्ममन्दिरों और ईश्वरविग्रहों तकको तोड़–फोड़ देते हैं। परमेश्वर एक है—दो नहीं। इन अत्याचारपूर्ण कार्योंके द्वारा एकमात्र परमेश्वरके प्रति हिंसाकी जाती है। मनुष्यमात्रको ऐसे अवैध एवं पशुवत् कार्योंसे सदैव दूर रहना चाहिए।[४]

(२) निष्ठुरता

निष्ठुरता दो प्रकारकी होती है—मनुष्यके प्रति निष्ठुरता और पशु–पक्षियोंके प्रति निष्ठुरता। नर–नारियोंके प्रति निष्ठुरताका व्यवहार करनेसे संसारमें विषम उत्पात उपस्थित होता है। जगतसे दया और धर्म उठ जाते हैं तथा निर्दयतारूप अधर्म सर्वत्र ही छा जाता है। सिराजुदौला और निरो आदि दुर्जनोंके द्वारा न जाने संसारमें कितने भयंकर उत्पात हुए थे। यदि किसीके हृदयमें किसी प्रकारकी निष्ठुरता हो, तो दयालु पुरुषोंकी दयालुताकी कथाएँ पढ़कर तथा दयाकी शिक्षा ग्रहणकर उसे क्रमशः दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए। आधुनिक क्षुद्र–क्षुद्र धर्मोंमें पशुओंके प्रति निष्ठुरताका विधान देखा जाता है। यह उनके व्यवस्थापकोंके कुयशकी घोषणा करता है। साधारण विषय–लोलुप लोग गाड़ीके बैलों और घोड़ोंको अत्यन्त कष्ट देते हैं। उसे देखकर सहृदय व्यक्तियोंका हृदय विदीर्ण हो जाता है। उन समस्त प्रकारके पशुओंके प्रति निष्ठुरताका व्यवहार परित्याग करना कर्त्तव्य है।

(३) क्रूरता

क्रूरता या कुटिलता एक पाप है। जब एक व्यक्ति स्वार्थके वशीभूत होकर या अभ्यासवशतः किसी दूसरे व्यक्तिके प्रति जो

---

[४] ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चातीताश्च मूढ़ताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥
(श्रीमद्भा. ११/५/१६)

असरल व्यवहार करता है, उसे कुटिलता कहते हैं। वही कुटिलता अधिक उद्वेगदायक होनेपर क्रूरता कहलाती है। जो ऐसे पाप कार्यमें आसक्त होते हैं, उनको खल कहते हैं।

(४) चित्त-विभ्रम (पागलपन या उन्माद)

चित्त-विभ्रम[५] चार प्रकारका होता है। (१) मादक द्रव्य-सेवनसे, (२) षड्रिपुओंकी प्रबलतासे, (३) नास्तिकतासे और (४) जड़तासे।

मादक द्रव्योंका सेवन—नशीली वस्तुओंका सेवन करनेसे जगतका अत्यधिक अहित होता है। इससे बहुत प्रकारकी बुराइयाँ फैलती हैं। समस्त प्रकारके पापोंका आश्रय—नशीली वस्तुएँ हैं। सब प्रकारके शराब, ताड़ी, गाँजा, भाँग, अफीम, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, चाय—ये सब मादक द्रव्य हैं। कोई-कोई मादक द्रव्य चित्तको उग्र करते हैं तथा स्वास्थ्यको नष्ट करते हैं। अफीमके सेवनसे मनुष्यका चित्त पशुओंके समान बन जाता है। तम्बाकूसे जड़ता उपस्थित होती है। मादक-द्रव्यका सेवन करना भयंकर पाप है। चिकित्सकोंके सरल आदेश या निर्देशके अतिरिक्त मादक द्रव्योंका सेवन कदापि नहीं करना चाहिए।

षड्रिपुओंकी प्रबलता—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य, ये छः रिपु कहलाते हैं। ये मनको वशीभूत करके मनुष्यको पापी बना देते हैं। स्वच्छन्दतापूर्वक निष्पाप रूपसे शरीर-यात्रा निर्वाहोपयोगी अर्थ और द्रव्यकी अभिलाषाको काम नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त अन्य कामनाओंको काम कहा जाता है। ये कामनाएँ ही हमारे सब प्रकारके दुःखोंका कारण हैं। कामना पूर्ण न होनेपर वह क्रोधको अपनी सहायताके लिए बुला लेती है। क्रोध उत्पन्न होनेपर कलह, कटु-वचन, मारपीट, युद्ध और आत्महत्या—सब कुछ सम्भव हो जाता है। क्रमशः लोभ उत्पन्न होकर पाप कार्यमें प्रवृत्त करा देता

---

[५] अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरंच पञ्चमम्॥
(श्रीमद्भा. १/१७/३८-३९)

है। अपनेको बड़ा समझनेका नाम मद है। कोई मनुष्य अपनेको जितना ही क्षुद्र समझेगा, उसमें उतना ही अधिक नम्रतारूप धर्म उदित होता है। मदका त्याग करना चाहिए। परन्तु मद त्याग करनेका तात्पर्य यथार्थका परित्याग करना नहीं है। जिसके पास जो अच्छी चीजें हैं, उनके ऊपर निर्भर करना उचित है। विशेषतः "मैं भगवान्‌का दास हूँ"—इस यथार्थ अभिमानका कदापि त्याग नहीं करना चाहिए। इससे मद नहीं होता; बल्कि औपाधिक मदका विनाश होता है। दूसरोंकी उन्नतिके प्रति ईष्याका नाम मात्सर्य है। यह सारे पापोंकी जड़ है। इन षड्‌रिपुओंमेंसे जिस किसी भी एक, दो या अधिक रिपुओंके आक्रान्त होनेपर चित्त-विभ्रम होता है।

नास्तिकता—उन्मादसे नास्तिकता पैदा होती है। नास्तिकता दो प्रकारकी होती है—(१) ईश्वर नहीं हैं—ऐसा निश्चय करना और (२) ईश्वर है या नहीं—ऐसा सन्देह करना। नास्तिकता—एक प्रकारका उन्माद ही है—बार-बार परीक्षा करनेपर इसे ठीक पाया गया है। उन्माद (वायु रोग आदि वाले) ग्रस्त लोग अधिकतर नास्तिक या सन्देहवादी होते हैं। ऐसा देखा गया है कि पागल या उन्माद रोग होनेके पहले कोई व्यक्ति ईश्वर विश्वासी था; परन्तु घटनावशतः पागल होनेपर या उन्माद-ग्रस्त होनेपर वह ईश्वर विश्वासी न रहा। रोग दूर होनेपर पुनः ईश्वर-विश्वासी हो गया। कोई-कोई पागल व्यक्ति दिन-रात 'हरे कृष्ण' इत्यादि नामका उच्च स्वरसे कीर्त्तन करते हैं। परन्तु उनसे पूछनेपर वे स्वयंको ही 'कृष्ण' आदि बतलाते हैं। यह सब चित्त-विभ्रम है।

जड़ता—आलस्यको ही जड़ता कहते हैं। इसे पाप माना गया है। जड़ताशून्य होना पुण्यात्माओंका एक प्रधान कर्त्तव्य है।

(५) मिथ्या (झूठ)

मिथ्या-व्यवहार चार प्रकारके हैं—(१) झूठ बोलना, (२) धर्म-कापट्य, (३) मिथ्याचरण (वञ्चना), और (४) पक्षपात।

झूठ बोलना—कभी भी झूठ नहीं बोलना चाहिए। झूठ बोलना पाप है। शपथ खाकर झूठ बोलना और भी अधिक पाप कार्य है।

जो लोग झूठ बोलते हैं, उनपर कोई भी विश्वास नहीं करता। अन्तमें सभी लोग घृणा करने लगते हैं।

धर्म-कापट्य—यह एक भयानक पाप है। ऐसे पापमें लिप्त व्यक्तियोंको बगुला-भगत कहते हैं। जो तिलक, माला, कौपीन, बहिर्वास और यज्ञोपवीत आदि धर्मके बाहरी चिह्नोंको तो धारण करते हैं, परन्तु ईश्वर भक्ति जिनमें नहीं होती, वे धर्म-ध्वजी हैं—कपट साधु हैं।

वञ्चना—जो लोग लोकव्यवहारमें मनकी बात प्रकाश नहीं करके कुछ और प्रकाश करते हैं, अर्थात् मनमें कुछ रखते हैं, बाहर कुछ और कहते हैं, वे शठ और वञ्चक हैं, उनसे सभी लोग घृणा करते हैं।

पक्षपात—यथार्थ पक्षमें न रहकर किसी भी कारणसे अन्याय पक्षका समर्थन करनेको पक्षपात कहते हैं। यह सर्वतोभावेन वर्जनीय है।

(६) गुर्ववज्ञा

गुर्ववज्ञा तीन प्रकारकी होती है—(१) माता-पिताकी अवहेला, (२) उपदेशोंकी अवहेला, और (३) दूसरे गुरुजनोंकी अवहेला। यदि गुरुजन भ्रमसे कभी अन्यायरूपसे डाँट-डपटें या मारें, फिर भी उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। कौशल और विनम्रताके साथ उनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिए। गुरुजनोंकी अन्याय आज्ञाका पालन नहीं करनेसे गुर्ववज्ञारूपी दोष नहीं लगता है।[६]

(७) लाम्पट्य

लम्पटता प्रधान रूपसे तीन प्रकारकी होती है—(१) अर्थ-लाम्पट्य, (२) स्त्री-लाम्पट्य, और (३) प्रतिष्ठा-लाम्पट्य। धन और विषयोंके प्रति लाम्पट्यको **अर्थ-लाम्पट्य** कहते हैं। अर्थ-लाम्पट्य बढ़ते-बढ़ते धन और विषय भोगोंकी आशा इतनी प्रबल हो उठती है कि उस

---

[६] किन्तु विशेष-विशेष परिस्थितियोंमें स्वार्थपर तथा भ्रान्त गुरुजनोंके गुरुतर अधर्मपर और भक्तिविरुद्ध आदेश-निर्देशोंका पालन नहीं करना चाहिए। ऐसा करनेसे गुर्ववज्ञाका दोष नहीं स्पर्श करता। जैसे प्रह्लाद, भरत, बलि महाराज आदिने क्रमशः पिता हिरण्यकशिपु, माता कैकेयी तथा गुरु शुक्राचार्य आदिके आदेशोंका पालन नहीं किया।

व्यक्तिकी सुख शान्ति सदाके लिए भङ्ग हो जाती है। इसलिए यत्नपूर्वक इससे बचना चाहिए। आवश्यकतानुसार जीवन-यात्राका निर्वाह होता रहे—ऐसे अर्थ और विषयोंके अतिरिक्त हृदयमें अधिक तृष्णा नहीं रखनी चाहिए।

स्त्री-लाम्पट्य एक बड़ा पाप है। परस्त्री और वेश्याका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिए। विवाहित स्त्रीके साथ सहवास करनेके लिए भी कुछ शारीरिक और सामाजिक विधियोंपर विचार करना आवश्यक है। कभी भी स्त्रैण नहीं होना चाहिए। स्त्रैण होनेसे सर्वनाश होता है।[७] अन्याय रूपसे स्त्रीसङ्ग करनेसे शरीर दुर्बल हो पड़ता है, बुद्धिका ह्रास होता है, तथा दुर्बल और अल्पायु सन्तान पैदा होती है। भारतवासियोंके लिए पुरुषकी आयु २१ वर्ष तथा स्त्रीकी आयु १६ वर्ष आयु होनेके पूर्व स्त्री-पुरुषसङ्ग करना अनुचित जान पड़ता है। पर्व या व्रतके दिन, स्त्री गर्भवती होनेपर और ऋतुकाल समाप्त न होनेतक स्त्रीसङ्ग निषिद्ध है। धर्म-प्रवृत्ति द्वारा स्त्री-लाम्पट्यको हृदयसे दूर करना चाहिए। प्रतिष्ठा-लोलुप व्यक्तिके सब कार्य नितान्त स्वार्थपर होते हैं। अतएव इनसे दूर रहकर निःस्वार्थ भावसे धर्माचरण करना चाहिए।

(८) स्वार्थ-सर्वस्वता

स्वार्थपरता पाप है। मनुष्य जीवनकी उन्नति और यथार्थ पारलौकिक कल्याणकी प्राप्तिके लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे भी स्वार्थ ही कहते हैं। परन्तु इस स्वार्थको त्याग करनेकी कहीं भी कोई विधि नहीं है। ऐसे स्वार्थसे अपना और जगत—सबका कल्याण होता है। ऐसे स्वार्थका परित्याग करनेसे जगतका अहित होता है। जो स्वार्थ निन्दनीय हैं, जिससे दूसरोंका अहित होता है, ऐसे कुस्वार्थका त्याग करना चाहिए। ऐसे स्वार्थसे अपने आश्रित रहनेवाले

---

[७] सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्संगाद् याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
संगं न कुर्याच्छोच्छोच्येषु योषित् क्रीड़ामृगेषु च॥
(श्रीमद्भा. ३/३१/३३-३४)

बच्चों और परिवारको कष्ट होता है, व्यर्थकी कृपणता होती है, सत्कर्ममें बाधा पहुँचती है; झगड़ा, चोरी, असन्तोष, अहङ्कार, ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा, लाम्पट्य आदि अनेकों प्रकारके पाप पैदा होते हैं। जिस व्यक्तिमें जितनी अधिक स्वार्थपरता होती है, उसी परिमाणमें उसका अपना और दूसरोंका अमङ्गल होता है। इसलिए स्वार्थपरताको दूर किए बिना किसी सत्कर्ममें प्रवृत्त नहीं हुआ जा सकता।[८]

(९) अपवित्रता

शारीरिक और मानसिक भेदसे अपवित्रता दो प्रकारकी होती है। पुनः ये दोनों देश, काल और पात्रभेदसे तीन-तीन प्रकारकी होती है। अपवित्र देशमें गमन करनेपर देशगत अपवित्रता होती है। उन देशवासियोंके अशुद्धाचरणसे वह देश अपवित्र रहता है। इसलिए धर्मशास्त्रोंमें ऐसा विचार देखा जाता है कि बिना किसी विशेष कारणके म्लेच्छ देशमें गमन करनेपर देशगत अपवित्रता स्पर्श करती है। देशका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए, उस देशके कल्याणके लिए, दुष्ट लोगोंके हाथोंसे उस देशका उद्धार करनेके लिए, युद्ध आदिके लिए या धर्म-प्रचार आदिके लिए म्लेच्छ देशमें जाना निषिद्ध नहीं है। म्लेच्छ देशकी विद्या या व्यवहारकी शिक्षा ग्रहण करनेके लिए, धर्म-शिक्षा करनेके लिए या उस देशके लोगोंके साथ रहनेके लिए म्लेच्छ देशमें गमन करनेसे आर्य जातिकी अवनति होती है। यह दोष स्पर्श करनेपर प्रायश्चित्त करना चाहिए। मलमासका समय कर्मकाण्डकी दृष्टिसे अपवित्र माना गया है। इसका कारण यह है कि काल और कर्मको विभक्त करके निर्द्धारित समयमें ही निर्द्धारित कर्म करनेकी व्यवस्था है। विभक्त कालके अतिरिक्त बचे हुए कालको तथा बड़ी-बड़ी घटनाओं अर्थात् ग्रहण आदिके कालको नियमित कार्योंके लिए अकाल माना गया है। उन कालोंमें किए गए कार्योंमें अपवित्रता लक्षित होती है। असमयमें स्त्री-गमन, असमयमें भोजन और असमयमें निद्रा आदि व्यवहारिक कार्योंमें अपवित्रता लक्षित होती है।

---

[८] प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजनेन परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रतोऽनुपश्ये॥
(श्रीमद्भा. ७/९/४४)

मद्यप और लम्पट लोगोंके हाथमें रसोई कार्य तथा देवपूजा-कार्य देनेसे पात्रगत अपवित्रता होती है। शरीर, वस्त्र, शय्या और गृहको गन्दा रखनेसे अपिवत्रता होती है। मलमूत्र त्यागनेके पश्चात् जलसे शरीरिक अपिवत्रता दूर कर लेनी चाहिए। भ्रम और मात्सर्यके द्वारा चित्त अपवित्र हो जाता है। इन्हें भी दूर करना चाहिए।

(१०) अशिष्टाचार

अशिष्टाचार एक प्रकारका पाप है। जो लोग सदाचारी एवं सत्पुरुषों द्वारा निर्द्धारित आचारोंको छोड़कर म्लेच्छोंके आचार-व्यवहारोंका पालन करते हैं, वे अशिष्टाचारी हैं। जो लोग म्लेच्छोंका सङ्ग करके पवित्र वर्णाश्रमधर्मको छोड़कर म्लेच्छोंकी भाँति स्वेच्छाचारी हो पड़ते हैं, वे भी प्रायश्चित्तके योग्य हैं, क्योंकि वर्णाश्रमधर्मके आचरण विज्ञानसिद्ध सदाचार हैं। इसके विरुद्धाचरणसे वे लोग पतित हो जाते हैं।

(११) जगन्नाशकर-कार्य

जगन्नाशकर-कार्य पाँच प्रकारके होते हैं—(१) सत्कार्यमें बाधा पहुँचाना, (२) फल्गु-वैराग्य, (३) धर्मके नामपर असदाचार फैलाना, (४) अन्याय युद्ध, और (५) अपव्यय (व्यर्थका खर्च)। किसी व्यक्तिके सत्कर्ममें प्रवृत्त होनेपर स्वयं या दूसरोंके द्वारा उस कार्यमें बाधा पहुँचानेका यत्न करनेपर वह जगन्नाश-कार्य करना होता है। भगवद्भक्तिके द्वारा अथवा ज्ञानोदयसे विषयोंके प्रति जो वैराग्य उदित होता है, वह उत्तम है; परन्तु चेष्टा द्वारा वैराग्य होनेपर नाना प्रकारसे अहित होता है। संसारमें रहकर गृहस्थ धर्मका उत्तम रूपसे पालन करना ही साधारण लोगोंका कर्त्तव्य है। सच्चा वैराग्य उदित होनेपर संन्यास आश्रमोपयोगी वैराग्यका आचरण करना उचित है अथवा भगवत्-सेवामें तत्पर होकर गृहस्थोपयोगी चेष्टाओंको क्रमशः कम करेंगे। इसीका नाम सच्चा वैराग्य है।

कुछ लोग गृह-कलह या अभाव आदि द्वारा कष्ट होनेपर अथवा किसी विपत्ति आदिसे घबराकर गृहस्थधर्म छोड़कर वैरागी या साधु बन जाते हैं, ऐसा करना पाप है। क्षणिक वैराग्य होनेसे आश्रम त्याग करनेका अधिकार नहीं होता। कुछ लोग स्वाभाविक वैराग्य उदित न होनेपर भी सिर मुड़ाकर गलेमें कण्ठी और मस्तकपर तिलक

आदि वैराग्यके बाह्य चिह्नोंको धारणकर घरसे निकल पड़ते हैं और सोचते हैं कि ऐसा करके शीघ्र ही भगवद्भक्ति प्राप्त कर लूँगा। परन्तु यह उनका भ्रम है; क्योंकि उनका अस्वाभाविक एवं क्षणिक वैराग्य कुछ ही दिनोंमें समाप्त हो जाता है और वे पुनः दुराचार एवं अन्याय पूर्ण विषय भोगोंमें अधिकाधिक फँस जाते हैं। प्रत्येक अधिकारके लिए अलग-अलग आचार निर्द्धारित किए गए हैं। जो व्यक्ति जिस अधिकारमें है, उस अधिकारके लिए निर्दिष्ट आचार ही उसके लिए सदाचार[९] है। अधिकारका विचार किये बिना अनधिकारगत आचारका पालन करनेसे जगतका और अपना दोनोंका ही अहित होता है। कोई-कोई भ्रमसे और कोई-कोई धूर्त्ततावश उच्च अधिकारके योग्य न होनेपर भी उस उच्च अधिकारके आचारोंका पालन करने लगते हैं। इससे भी क्रमशः जगतका अहित होता है। कहीं-कहीं धर्मके नामपर दुराचार और पाखण्डताका ही प्रचार देखा जाता है। भक्ति संन्यासियोंका वर्णाश्रमधर्मके विरुद्ध प्रचार तथा नेड़ा, बाउल, कर्त्ताभजा, दरवेश, कुम्भपटिया, अतिबाड़ी, स्वेच्छाचारी भक्त ब्रह्मवादियोंकी वर्णाश्रम-विरुद्ध चेष्टाएँ अत्यन्त अहितकर हैं। इसके द्वारा वे लोग जो पाप फैलाते हैं, वह जगन्नाशका ही कारण होता है। सहजिया, नेड़ा, बाउल, कर्त्ताभजा आदिका अवैध स्त्रीसङ्ग नितान्त धर्म-विरुद्ध है। राज्य विस्तारके लिए जो अन्याय-युद्ध होते हैं, वे सब अधर्म तथा जगत-विनाशके कार्य हैं। अत्यन्त न्याय-युद्धके सिवा धर्मशास्त्रोंमें कहीं भी युद्धका विधान नहीं देखा जाता। अर्थ, शक्ति, समय और सामग्रियोंका न्यायपूर्वक व्यय करनेकी ही विधि है। उनको अन्याय रूपमें व्यय करनेसे अपव्ययरूप पाप स्पर्श करता है।

पाप और अपराध

पात्रकी गुरुता और लघुताके अनुसार पापकी गुरुता और लघुताका विचार होता है। गुरुता और लघुताके अनुसार पाप, पातक,

[९] स्वे-स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः॥
(श्रीमद्भा. ११/२१/२)

अतिपातक और महापातक आदि भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। भक्त और भगवान्‌के प्रति किए गए पापको अपराध कहते हैं। अपराध सबसे बड़ा भयंकर पाप है। इससे सर्वदा दूर रहना चाहिए। अगली वृष्टिमें मुख्य-प्रवृत्तियुक्त विधिका विवेचन होगा।

त्रैवर्गिक और आपवर्गिक धर्म

इस छोटी पुस्तकमें धर्माधर्म, पापपुण्य और विधि-निषेधसमूहका केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। जो लोग अधिक विस्तारके साथ इस विषयको जानना चाहते हैं, उन्हें महर्षियों द्वारा रचित बीस धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणोंका अध्ययन करना चाहिए। इस नश्वर जगतमें एकमात्र धार्मिक जीवन ही सर्वोत्तम वस्तु है। उसे प्राप्त करनेके लिए सबको विशेष प्रयत्न करना चाहिए।[१०] सत्कर्मसमूह दो प्रकारके होते हैं—त्रैवर्गिक और आपवर्गिक। त्रैवर्गिक धर्म अनित्य, क्षुद्र, स्वार्थपर और कर्मकाण्डमय होते हैं। आपवर्गिक धर्म उच्च है, तथा वह मोक्ष प्रदान करते है। कृष्ण भक्तिस्वरूप विशुद्ध आपवर्गिक धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है। यही सबके लिए पालनीय है। इससे मोक्षकी कामना भी दूर हो जाती है और उसका स्वरूप है—भक्ति।

---

[१०] वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/४७)

तृतीय वृष्टि

उसमें कृष्णदासाभिमानरूप सम्भ्रमोत्तरा प्रीति लक्षित होती है। दास्यरसकी विवृति इस प्रकार है—

(क) विषयरूप आलम्बन—जिनके एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं, जो कृपाके समुद्र हैं, अविचिन्त्य महाशक्तिसम्पन्न हैं, जो समस्त अवतारावलीके बीजस्वरूप हैं, जो सभी प्रकारके आत्माराम व्यक्तियोंका भी चित्त आकर्षण करते हैं, जो सभी ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, परमाराध्य, सर्वकर्मदक्ष, सर्वज्ञ, सुदृढ़व्रत, क्षमाशील, शरणागत-पालक, दक्षिण, सत्यस्वरूप, सर्वशुभंकर, प्रतापी, शुद्ध, न्यायशील, भक्तसुहृद्, वदान्य, सर्वतेजोमय, सर्वबलशाली, परम कीर्त्तिमान, कृतज्ञ एवं प्रेमवश्य श्रीकृष्णस्वरूप परात्पर वस्तु हैं, ऐसे वे ही इस रसके विषयरूप आलम्बन हैं।

(ख) आश्रयरूप आलम्बन—(१) अधिकृत, (२) आश्रित, (३) पारिषद और (४) अनुग—ये चार प्रकारके दास[२] ही इस रसके आश्रय आलम्बन हैं; ये सभी रसोपयोगी जीव हैं।

(१) ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र आदि दास श्रीकृष्णकी कृपासे अधिकार प्राप्तकर 'अधिकृत-दास' हुए हैं।

(२) शरण्य, ज्ञानिचर और सेवानिष्ठ—ये तीन प्रकारके आश्रित दास हैं। कालीय, जरासन्ध और उनके कारागारमें बद्ध सभी राजा

---

[२] चतुर्द्धामी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः॥
ब्रह्मशंकरशक्राद्याः प्रोक्ता अधिकृता बुधैः।
(भ. र. सि. ३/२/१८-१९)
ते शरण्या ज्ञानिचराः सेवानिष्ठास्त्रिधाश्रिताः॥
शरण्याः कालियजरासन्धबद्धनृपादयः॥
(भ. र. सि. ३/२/२१, २३)
ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिमेव समाश्रिताः।
शौनकप्रमुखास्ते तु प्रोक्ता ज्ञानिचरा बुधैः॥
(भ. र. सि. ३/२/२६)
मूलतो भजनासक्ताः सेवानिष्ठा इतीरिताः॥
चन्द्रध्वजो हरिहयो बहुलाश्वस्तथा नृपः।
इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च पुंडरीकादयश्च ते॥
(भ. र. सि. ३/२/२९)

'शरण्य आश्रित दास' हैं। शौनकादि ऋषि मुक्तिकी इच्छाका परित्याग करके 'ज्ञानिचर आश्रित दास' बने थे। चन्द्रध्वज, हरिहय, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव और पुण्डरीक आदि प्रथम कालसे ही भजनासक्त होनेके कारण 'सेवानिष्ठ आश्रित दास' हैं।

(३) उद्धव, दारुक, नन्द, उपनन्द और भद्रक आदि 'पारिषददास' हैं। ये लोग समय-समयपर परिचर्या किया करते हैं।

उद्धवो दारुको जैत्रः क्षुतदेवश्च शत्रुजित्।
नन्दोपनन्दभद्राद्याः पार्षदा यदुपत्तने॥
(भ. र. सि. ३/२/३१)

कौरवेषु तथा भीष्मपरीक्षिद्विदुरादयः॥
(भ. र. सि. ३/२/३२)

एतेषां प्रवरः श्रीमानुद्धवः प्रेमविक्लवः॥
(भ. र. सि. ३/२/३५)

सर्वदा परिचर्यासु प्रभोरासक्तचेतसः।
पुरस्थाश्च व्रजस्थाश्चेत्युच्यते अनुगा द्विधा॥
सुचन्द्रो मण्डनः स्तम्भः सुतन्वाद्याः पुरानुगाः।
एषां पार्षदवत्प्रायो रूपलङ्करणादयः॥
(भ. र. सि. ३/२/३८-३९)

रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मधुव्रतः।
रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः॥
आनन्दश्चन्द्रहासश्च पयोदो बकुलस्तथा।
रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मताः॥
(भ. र. सि. ३/२/४१-४२)

व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान् रक्तको मतः॥
(भ. र. सि. ३/२/४५)

धुर्यो धीरश्च वीरश्च त्रिधा पारिषदादिकः॥
(भ. र. सि. ३/२/४८)

एतेषु तस्य दासेषु त्रिविधेष्वाश्रितादिषु।
नित्यसिद्धाश्च सिद्धाश्च साधकाः परिकीर्त्तिताः॥
अनुग्रहस्य संप्राप्तिस्तस्यांघ्रिरजसां तथा।
भुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्तसङ्गतिः।
इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणा मता॥
(भ. र. सि. ३/२/५६-५७)

(४) अनुग दास—ये 'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ' भेदसे दो प्रकारके हैं। ये लोग सर्वदा परिचर्या किया करते हैं। सचन्द्र, मण्डन, स्तम्भ और सुतन्वा आदि पुरस्थ दास हैं। रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, प्रेमकन्द, मरन्द, आसन्द, चन्द्रहास, पयोद, बकुल, रसद, शारद आदि व्रजस्थ 'अनुग–दास' हैं।

सभी दास प्रश्रित, निदेशवर्त्ती, विश्वस्त और प्रभुता–ज्ञान द्वारा नम्र बुद्धिवाले हैं। कोई धुर्यदास, कोई धीरदास और कोई वीरदास हैं। पूर्वोक्त चार प्रकारके दासोंमेंसे आश्रित, पारिषद और अनुग—इन दासोंमें कोई नित्यसिद्ध, कोई सिद्ध और कोई साधक भी हैं।

(३) उद्दीपन[३]—कृष्णका मुरली–शब्द, शृङ्ग–ध्वनि, सहास्यावलोक, गुणोत्कर्ष–श्रवण, पद्म, पदचिह्न, नवीन मेघ, अङ्ग–सौरभ—ये साधारण उद्दीपन हैं। कृष्णानुग्रह, चरण–तुलसी, प्रसादान्न, चरणामृत—ये कृष्ण भक्तोंके विशेष उद्दीपन हैं।

अनुभाव

यहाँ तक दास्यरसका विभाव वर्णित हुआ। अब इस रसके अनुभावके विषयमें यही कहना है कि साधारणतः जो तेरह अनुभाव हैं, उनको छोड़कर दास भक्तोंमें निम्नलिखित कुछ अनुभाव[४] भी लक्षित होते हैं—

(१) सब प्रकारसे आज्ञा–पालन, (२) भगवत्–परिचर्यामें ईर्ष्या–शून्यता, (३) कृष्णदासोंके साथ मित्रता, एवं (४) प्रीतिमात्र–निष्ठा।

---

[३] **उद्दीपनाः—**

मुरलीशृङ्ग्योः स्वानः स्मितपूर्वावलोकनम्।
गुणोत्कर्षश्रुतिः पद्मपदाङ्कनवनीरदाः।
तदङ्गसौरभाद्यास्तु सर्वैः साधारणा मताः॥
(भ. र. सि. ३/२/५९)

[४] **अनुभावाः—**

सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः।
ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने।
तन्निष्ठताद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रियाः॥
(भ. र. सि. ३/२/६१)

दास्यरसमें स्तम्भादि आठ प्रकारके सात्त्विक विकार[५] ही देखे जाते हैं। इसमें हर्ष, गर्व, स्मृति, निर्वेद, विषण्णता, दैन्य, चिन्ता, शंका, मति, औत्सुक्य, चापल्य, वितर्क, आवेग, लज्जा, जड़ता, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, क्लम, व्याधि एवं मृति—ये कतिपय व्यभिचारीभाव[६] कार्य करते हैं।

इस रसमें प्रभुता-ज्ञानके निमित्त सम्भ्रम, कम्प और चित्तमें आदर—ये प्रेमके सहित एक होकर स्थायीभावके[७] रूपमें कार्य करते हैं। आश्रित लोगोंके लिए पूर्वोक्त क्रमानुसार रति उत्पन्न होती है। पारिषद और अनुग लोगोंके लिए संस्कार ही रतिका उत्तेजक है। इस

---

[५] स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः सर्वे प्रीतादित्रितये मताः।
(भ. र. सि. ३/२/६६)

[६] उद्भास्वराः पुरोक्ता ये तथास्य सुहृदादरः।
विरागाद्याश्च ये शीताः प्रोक्ताः साधारणास्तु ते॥
हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषण्णता।
दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शंका मतिरौत्सुक्यचापले॥
वितर्कावेगह्रीजाड्यमोहोन्मादावहित्थिकाः ।
बोधः स्वप्नः क्लमो व्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिणः॥
इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत्।
योगे त्रयः स्युर्धृत्यन्ता अयोगे तु क्लमादयः॥
उभयत्र परे शेष निर्वेदाद्याः सतां मताः।
(भ. र. सि. ३/२/६३, ६९-७१)

[७] **स्थायी भावाः—**
संभ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते।
एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः॥
आश्रितादेः पुरैवोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि।
तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि।
संस्कारोद्बोधकास्तस्य दर्शनश्रवणादयः॥
एषा तु संभ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम्।
वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततो राम इति त्रिधा॥
(भ. र. सि. ३/२/७६-७८)

दास्यप्रीतिमें प्रेम, स्नेह और रागतक देखा जाता है। सभी रस उत्तरोत्तर उच्च, उत्कृष्ट और चमत्कारपूर्ण हैं। यदि साधकको लोभ हो जाए, तो उन रसोंमें अधिकार प्राप्त होता है। साधनके समयमें जिनका जिस रसके प्रति लोभ होता है, सिद्धि–कालमें उनकी उसी रसमें नित्य स्थिति प्राप्त होती है।

रागात्मिकाभक्ति तथा रागानुगासाधक

रसगत भक्तिको रागात्मिकाभक्ति कहा जा सकता है। साधनाङ्गमें जो रागानुगाभक्तिका परिचय है, वह इस रागात्मिकाभक्तिका अनुकरण है। रागानुगाभक्त रसिक सिद्धभक्तोंका चरित्र और व्यवहार अनुकरण करेंगे। जो रस भक्तका जीवन है एवं उन्हें उपादेय जान पड़ता है, वही उनके लिए अनुकरणीय है। सिद्धि–कालमें वे वैसा ही जीवन प्राप्त करेंगे।

सम्भ्रमप्रीति यहीं तक है। देह–सम्बन्धीय सम्मान द्वारा जो गुरुबुद्धि होती है, उसीका नाम गौरव है। तन्मयी लाल्य प्रीतिको गौरवप्रीति कहते हैं। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें इस विषयका विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अतएव इस विषयपर यहाँ अधिक विस्तार नहीं किया गया।

अथ प्रेमाः—

ह्रास–शंकाच्युता बद्धमूला प्रमेयमुच्यते।
तस्यानुभावाः कथितास्तत्र व्यसनितादयः॥
(भ. र. सि. ३/२/८१)

अथ रागः—

स्नेहः स रागो येन स्यात् सुखंदुःखमपि स्फुटम्।
तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि॥
(भ. र. सि. ३/२/८७)

पञ्चम धारा

प्रेमभक्तिरस, सख्यरस

सख्यरूप स्थायीभाव अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा साधुपुरुषोंके हृदयमें आस्वादनीयताको प्राप्त होकर प्रेयोभक्तिरस कहलाता है।[१] प्रेयोभक्तिरसको प्रेमभक्तिरस भी कहते हैं।

श्रीकृष्ण और उनके सखागण इस रसमें आलम्बन विभाव हैं। द्विभुज भगवान् ही यहाँ विषयरूप आलम्बन हैं। ये द्विभुज कृष्ण— सुन्दर वेषवाले, समस्त उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित, बलवानोंमें अग्रगण्य, नाना प्रकारकी अद्भुत भाषाओंके ज्ञाता, वावदूक् (वाग्मी), सुपण्डित, अतिशय प्रतिभासम्पन्न, दक्ष (चतुर), दयालु, वीराग्रणी, विदग्ध

---

[१] स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते॥

तत्रालम्बनाः—

हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बना मताः॥

तत्र हरिः—

द्विभुजत्वादि भागत्र प्राग्वदालम्बनो हरिः।
(भ. र. सि. ३/३/१-३)

सुवेशः सर्वसल्लक्ष्मलक्षितो बलिनां वरः।
विविधाद्भुतभाषाविद् वावदूकः सुपण्डितः॥
विपुलप्रतिभो दक्षः करुणो वीरशेखरः।
विदग्धो बुद्धिमान् क्षन्ता रक्तलोकः समृद्धिमान्।
सुखी च वरीयानित्याद्या गुणस्तस्येह कीर्त्तिताः॥

तद्वयस्याः—

रूपवेशगुणाद्यैस्तु समाः सम्यगयन्त्रिताः।
विश्रम्भसंभृतात्मानो वयस्यास्तस्य कीर्त्तिताः॥
(भ. र. सि. ३/३/६-८)

(रसिकतामें परम निपुण और कुशल), बुद्धिमान, क्षमाशील, लोकप्रिय, समृद्धिशाली, सुखी और श्रेष्ठ आदि विविध सद्‌गुणोंसे अलंकृत होते हैं। सखागण भी रूप, वेष और गुणमें कृष्णके ही समान सम्यक् स्वतन्त्र और विश्रम्भलक्षणसम्पन्न (संकोच भावसे रहित और अत्यन्त विश्वस्त हृदयवाले) होते हैं।

कृष्णके सखा

सखा दो प्रकारके होते हैं—पुरवासी और व्रजवासी। अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी और श्रीदामा ब्राह्मण आदि पुरसम्बन्धीय सखा हैं।

ते पुरव्रजसम्बन्धाद् द्विविधाः प्राय ईरिताः॥
अर्जुनो भीमसेनश्च दुहिता द्रुपदस्य च।
श्रीदामभूसुराद्याश्च सखायः पुरसंश्रयाः॥
(भ. र. सि. ३/३/१०–११)

श्रेष्ठः पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः॥
(भ. र. सि. ३/३/१३)

क्षणाददर्शनाद्दीनाः सदा सहविहारिणः।
तदैकजीविताः प्रोक्ता वयस्या व्रजवासिनः।
अतः सर्ववयस्येषु प्रधानत्वं भजन्त्यमी॥
(भ. र. सि. ३/३/१६)

वात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किञ्चित्ते वयसाधिकाः।
सायुधास्तस्य दुष्टेभ्यः सदा रक्षापरायणाः॥
सुभद्र–मण्डलीभद्र–भद्रवर्द्धन–गोभटाः ।
यक्षेन्द्रभटभद्रांग–वीरभद्रा महागुणाः।
विजयो बलभद्राद्याः सुहृदस्तस्य कीर्त्तिताः॥
(भ. र. सि. ३/३/२२–२३)

कनिष्ठकल्पाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगन्धिना।
विशालवृषभोजस्विदेवप्रस्थवरूथपाः ॥
मरन्दकुसुमापीड़मणिबन्धकरन्धमाः ।
इत्यादयः सखायोऽस्य सेवासौख्यैकरागिणः॥
(भ. र. सि. ३/३/३०–३१)

सर्वेषु सखिषु श्रेष्ठो देवप्रस्थोऽयमीरितः॥
(भ. र. सि. ३/३/३३)

उनमें अर्जुन सर्वश्रेष्ठ हैं। थोड़ी-सी देर भी कृष्णको न देखनेपर घबड़ा जानेवाले, सर्वदा कृष्णके साथ विहार करनेवाले और कृष्ण ही जिनके जीवन हैं, ऐसे सखागण कृष्णके व्रजवासी सखा हैं। अतः कृष्णके समस्त सखाओंमें व्रजवासी सखागण ही प्रधान हैं।

व्रजवासी सखा भी चार प्रकारके होते हैं—सुहृद्, सखा, प्रिय सखा और प्रियनर्म सखा। ये चारों प्रकारके सखागण व्रजमें नित्य कृष्णसेवा करते हैं। सुहृद् सखाओंका सख्य वात्सल्यमिश्रित होता है। वे आयुमें

वयस्तुल्याः प्रियसखाः सख्यं केवलमाश्रिताः।
श्रीदामा च सुदामा च दामा च वसुदामकः॥
किंकिणी-स्तोककृष्णांशु-भद्रसेन-विलासिनः ।
पुण्डरीकविटंकाक्ष-कलविङ्कादयोऽप्यमी ॥
रमयन्ति प्रियसखाः केलिभिर्विविधैः सदाः।
नियुद्ध-दण्डयुद्धादि-कौतुकैरपि केशवम्॥
(भ. र. सि. ३/३/३६-३८)

प्रियनर्मवयस्यास्तु पूर्वतोऽप्यभितो वराः।
आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ता भावविशेषिणः।
सुबलार्जुनगन्धर्वास्ते वसन्तोज्ज्वलादयः॥
(भ. र. सि. ३/३/४३)

प्रियनर्मवयस्येषु प्रबलौ सुबलोज्ज्वलौ॥
(भ. र. सि. ३/३/४५)

उज्ज्वलोऽयं विशेषेण सदा नर्मोक्तिलालसः॥
(भ. र. सि. ३/३/५०)

नित्यप्रियाः सुरचराः साधकाश्चेति ते त्रिधा।
केचिदेषु स्थिरा जात्या मन्त्रिवत्तमुपासते॥
तं हासयन्ति चपलाः केचिद्वैहासिकोपमाः।
केचिदार्जवसारेण सरलाः शीलयन्ति तम्॥
वामा वक्रिमचक्रेण केचिद्विस्माययन्त्यमुम्।
केचित् प्रगल्भाः कुर्वन्ति वितण्डाममुना समम्।
सौम्याः सुनृतया वाचा धन्या धिन्वन्ति तं परे॥
एवं विविधया सर्वे प्रकृत्या मधुरा अमी।
पवित्रमैत्रीवैचित्रीचारुतामुपचिन्वते ॥
(भ. र. सि. ३/३/५३-५६)

कृष्णसे कुछ बड़े और अस्त्र धारणकर दुष्टोंसे कृष्णकी रक्षामें सदा तत्पर रहते हैं। सुभद्र, मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धन, गोभट, यक्ष, इन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, महागुण, विजय और बलभद्र (बलदेव) आदि कृष्णके सुहृद् सखा कहलाते हैं।

आयुमें कृष्णसे छोटे, दास्यमिश्र–सख्ययुक्त विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप, मरन्द, कुसुमापीड़, मणिबन्ध और करन्दम आदि कृष्णके सखा हैं। ये कृष्णसेवामें अतिशय अनुरागी होते हैं। इन सखाओंमें देवप्रस्थको श्रेष्ठ माना गया है।

बराबरकी आयुयुक्त एवं शुद्ध सख्यभावका अवलम्बन करनेवाले श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, किङ्किणी, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटङ्क और कलविङ्क आदि कृष्णके प्रियसखा हैं। ये विविध प्रकारकी क्रीड़ाओं द्वारा, मल्लयुद्ध और दण्डयुद्ध आदि द्वारा कृष्णको सदा आह्लादित करते रहते हैं। इन प्रिय सखाओंमें श्रीदाम सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं।

पूर्वोक्त तीनों प्रकारके वयस्योंसे समवयस्क भी अधिक श्रेष्ठ, अत्यन्त गोपनीय भावोंसे युक्त और गोपनीय कार्योंमें निरत कृष्णके वयस्योंको प्रियनर्म सखा कहते हैं। सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त और उज्ज्वल आदि प्रियनर्म सखा हैं। इनमें सुबल और उज्ज्वल प्रमुख माने जाते हैं। उज्ज्वल तो सर्वाधिक परिहासचतुर हैं। उक्त सखागण नित्यप्रिय, सुरचर और साधक भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। इनमेंसे भी कुछ स्वभावतः स्थिरमति होनेसे मन्त्रीके समान कृष्णकी सेवा करते हैं, कुछ चपल स्वभाववाले सखा कृष्णको विदूषकके समान हँसाते रहते हैं, कुछ सरल प्रकृतिवाले सरलता द्वारा कृष्णकी सेवा करते हैं, कुछ वाम्य प्रकृतिवाले उलटे–सीधे उपायोंसे उनको आश्चर्यान्वित करते रहते हैं, कुछ प्रगल्भ स्वभाववाले बालक वाद–विवाद द्वारा उनको आनन्दित करते हैं और कोई–कोई सौम्य प्रकृतिवाले सहज–सरल और मधुर वचनोंसे उनको प्रसन्न करते रहते हैं। इस प्रकार नाना प्रकारके सभी सखा अपने–अपने स्वाभाविक मधुर और पवित्र बन्धुत्वके द्वारा नाना प्रकारके कार्योंकी विचित्रता सम्पादन करते हैं।

सख्यरसके उद्दीपन[२]—वयस, रूप, शृङ्ग, वेणु, शंख, विनोद, हसी-मजाक, पराक्रम आदि गुण तथा प्रियजन, राजा, देवता, अवतार आदिकी चेष्टाओंका अनुकरण—ये इस रसके उद्दीपन-विभाव हैं। सख्यरसमें कौमार, पौगण्ड और कैशोर—तीन अवस्थाएँ होती हैं। इनमेंसे गोष्ठमें कौमार, पौगण्ड और कैशोर तथा पुरमें केवल कैशोरावस्था लक्षित होती है। वात्सल्यके लिए कौमारावस्था उपयुक्त है। पौगण्डावस्था तीन प्रकारकी होती है—आद्य, मध्य और शेष। मध्य-पौगण्डमें श्रीहरिका सौन्दर्य दिव्यातिदिव्य होता है। कैशोरके अग्रभागमें माधुर्यकी अद्भुत रूपता[३] देदीप्यमान होती है। ये सब उद्दीपन-विभाव हैं।

इस रसके अनुभाव[४] कुश्ती, गेन्द खेलना, द्यूतक्रीड़ा, वाद्य तथा सवारीकी क्रीड़ा एवं दण्डोंसे परस्पर लड़ाई आदिके द्वारा कृष्ण-तोषण; पलङ्ग, आसन और झूलेपर साथ-साथ सोना, बैठना और झूलना, सुन्दर एवं नाना प्रकारके परिहास करना, जलाशयोंमें विहार तथा कृष्णके साथ नाचना और गाना आदि—ये सब इस रसमें सभी

---

[२] **अथ उद्दीपनाः—**

उद्दीपना वयोरूप-शृंगवेणुदरा हरेः।
विनोद-नर्म-विक्रान्ति-गुणाः प्रेष्ठजनास्तथा।
राजदेवावतारादि-चेष्टानुकरणादयः ॥
(भ. र. सि. ३/३/५७)

[३] वयः कौमारपौगण्डे कैशोरञ्चे सम्मतम्।
गोष्ठे कौमारपौगण्डे कैशोरं पुरगोष्ठयोः॥
पौगण्डमध्य एवायं हरिर्दीव्यन् विराजते।
(भ. र. सि. ३/३/५८, ७१)

[४] **अथानुभावाः—**

नियुद्धकन्दुकद्यूतवाह्यवाहादिकेलिभिः ।
लगुडालगुडिक्रीडासंगरैश्चास्य तोषणम्॥
पर्यकासनदोलासु सहस्वापोपवशनम्।
चारुचित्रपरीहासो विहारः सलिलाशये॥
युग्मत्वे लास्यगानाद्याः सर्वसाधारणाः क्रियाः॥
(भ. र. सि. ३/३/८६-८८)

प्रकारके सखाओंके साधारण कार्य हैं। कर्त्तव्याकर्त्तव्यका उपदेश, हितकारी कार्योंमें प्रवृत्त करना और सभी कार्योंमें अग्रसर रहना—ये सुहृदोंके कार्य हैं।

कृष्णके मुखमें ताम्बूल–अर्पण, तिलक–रचना, चन्दन–लेपन तथा कपोलों आदिपर पत्रांकुर–रचना इत्यादि सखाओंके कर्म हैं। युद्धमें कृष्णको पराजित करना, वस्त्र पकड़कर खींचना, विनोदमें कृष्णके हाथोंसे पुष्प आदिको छीन लेना, कृष्णके द्वारा अलंकृत होना तथा हाथा–पाईका प्रसङ्ग आ जाना—ये प्रिय सखाओंके कार्य हैं। व्रजकिशोरियोंके पास दूत बनकर जाना, उनके प्रणयके प्रति अनुमोदन और किशोरियोंके साथ कृष्णका प्रणय–कलह होनेपर कृष्णका पक्ष समर्थन करना और व्रजकिशोरियोंकी अनुपस्थितिमें यूथेश्वरीके पक्षको समर्थन करनेकी चतुरता तथा कृष्णके साथ कानाफूसी करना आदि प्रियनर्म सखाओंके कार्य हैं। वन्य पुष्पों और रत्नालङ्कारोंसे कृष्णको सजाना, उनके सामने नाचना–गाना–बजाना, गौओंकी सम्भाल करना, कृष्णके अङ्गोंको दबाना, माला गूँथना और पंखा करना—ये दासोंके समान वयस्कोंमें भी रहनेवाली क्रियाएँ हैं।

युक्तायुक्तादिकथनं हितकृत्ये प्रवर्त्तनम्।
प्रायः पुरःसरत्वाद्याः सुहृदाभीरिताः क्रियाः॥
ताम्बूलाद्यर्पणं वक्त्रे तिलकस्थासकक्रिया।
पत्रांकुरविलेखादि सखीनां कर्म कीर्त्तितम्॥
निर्जितीकरणं युद्धेवस्त्रे धृत्वास्य कर्षणम्।
पुष्पाद्याच्छेदनं हस्तात् कृष्णेन स्वप्रसाधनम्।
हस्ताहस्तिप्रसंगाद्याः प्रोक्ताः प्रियसखक्रियाः॥
दौत्यं व्रजकिशोरीषु तासां प्रणयगामिता।
ताभिः केलिकलौ साक्षात् सख्युः पक्षपरिग्रहः॥
असाक्षात् स्वस्व यूथेशापक्ष–स्थापनचातुरी।
कर्णाकर्णिकथाद्याश्च प्रियनर्मसखक्रियाः॥
वस्त्ररत्नाद्यंलकारैर्माधवस्य प्रसाधनम्।
पुरस्तौर्यत्रिकं तस्य गवां संभालनक्रियाः॥
अंगसंवाहनं माल्यगुम्फनं वीजनादयः।
एताः साधारणा दासैर्वयस्यानां क्रिया मताः।
(भ. र. सि. ३/३/९०–९६)

उग्रता, भय और आलस्यको छोड़कर शेष सारे व्यभिचारीभाव[५] इस रसमें लक्षित होते हैं। उनमेंसे अयोगमें मद, हर्ष, गर्व, निद्रा और धृतिको छोड़कर सब व्यभिचारीभाव तथा योगमें मृति, क्लम, व्याधि, अपस्मृति और दैन्यके अतिरिक्त शेष सारे व्यभिचारी भाव होते हैं।

इस रसमें भय एवं गौरवरहित-विश्रम्भ—विश्वासमय रति ही स्थायीभाव है। किसी प्रकारके संकोचसे रहित जो प्रगाढ़ विश्वास होता है, उसे ही विश्रम्भ कहते हैं। उसीको सम्भ्रमशून्य विश्वास[६] भी कहते हैं।

यह सख्यरति प्रणय द्वारा क्रमशः पुष्ट होकर प्रेम, स्नेह और रागावस्था तक पहुँच जाती है।

सम्भ्रम आदिका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर भी सम्भ्रम गन्धरहित जो रति होती है, उसे प्रणय[७] कहते हैं।

प्रकटलीलाके अनुसार इस रसमें विरहका वर्णन रहनेपर भी वास्तवमें व्रजवासियोंका कृष्णसे कभी भी वियोग नहीं होता।[८]

---

[५] औग्रयं त्रासं तथालस्यं वर्जयित्वाखिलाः परे।
रसे प्रेयसी भावज्ञैः कथिता व्यभिचारिणः॥
तत्रायोगे मदं हर्षं गर्वं निद्रां धृतिं विना।
योगे मृतिं क्लमं व्याधिं विनापस्मृति-दीनते॥
(भ. र. सि. ३/३/१०२-१०३)

[६] प्राप्तायां सम्भ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम्।
तद्गन्धेनाप्यसंस्पृष्टा रतिः प्रणय उच्यते॥
(भ. र. सि. ३/३/१०८)

[७] विमुक्तसम्भ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः।
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्॥
विश्रम्भो गाढ़विश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः।
एषा सख्यरतिर्वृद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात्।
प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पंचविधोदिता॥
(भ. र. सि. ३/३/१०५-१०६)

[८] प्रोक्तेयं विरहावस्था स्पष्टलीलानुसारतः।
कृष्णेन विप्रयोगः स्यान्न जातु व्रजवासिनाम्॥
(भ. र. सि. ३/३/१२८)

(*अगले पृष्ठपर*)

कृष्ण और कृष्णके सखाओं—दोनोंके चित्तमें एकजातीय माधुर्यको प्रस्तुत करनेवाला यह प्रेयोभक्तिरस चित्तमें किसी अनिर्वचनीय आनन्दको उत्पन्न करता है। प्रीत (दास्य) और वत्सलरसमें श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णभक्त दोनोंके परस्पर भिन्न–जातीय भाव रहते हैं, अर्थात् एकजातीय नहीं होते। इसलिए सभी रसोंमें प्रेयोभक्तिरस अर्थात् सख्यरस ही प्रियतर माना जाता है और सख्यभावसे परिपूर्ण महात्मागण ही उसका अनुभव करते[९] हैं।

वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीड़ति माधवः।
वृन्दावनान्तर्गतः सरामो बालकैर्वृतः॥
(स्कन्दपुराण)

[९] द्वयोरप्येकजातीयभावमाधुर्यभागसौ ।
प्रेयान् कामपि पुष्णाति रसश्चित्तचमत्कृतिम्॥
प्रीते च वत्सले चापि कृष्णस्तद्भक्तयोः पुनः।
द्वयोरन्योऽन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत्॥
प्रेयानेव भवेत् प्रेयानतः सर्वरसेष्वयम्।
सख्यसंपृक्तहृदयैः सद्भिरेवानुबुध्यते॥
(भ. र. सि. ३/३/१३४–१३६)

षष्ठ धारा
वत्सल-भक्तिरस

वत्सलरस

विभावादिके द्वारा वात्सल्य पुष्ट होनेपर पण्डितजन उसे स्थायी वत्सल-भक्तिरस कहते हैं।[१] कृष्ण और उनके गुरुजन इस रसके आलम्बन हैं।

विभाव

सुन्दर, श्यामाङ्ग, सर्व शुभलक्षणोंसे युक्त, मृदुल स्वभाव, मधुर भाषी, सरल, लज्जाशील, विनयी, पूजनीय जनोंका आदर करना और दाता आदि सद्गुणोंसे युक्त कृष्ण ही इस रसमें विभाव हैं एवं वे पुत्रादिके रूपमें ईश्वरप्रभावसे रहित, अनुग्रह्य (लालन-पालनयोग्य) भाव धारण करके विभावताको प्राप्त होते हैं।[२]

---

[१] विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एष वत्सलनामात्र प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः॥

[२] **तत्रालम्बनाः—**
कृष्णं तस्य गुरूंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः॥
(भ. र. सि. ३/४/१-२)
श्यामांगो रुचिरः सर्वसल्लक्षणयुतो मृदुः।
प्रियवाक् सरलो ह्रीमान् विनयी मान्यमानकृत्।
दातेत्यादिगुणः कृष्णो विभाव इति कथ्यते॥
एवं गुणस्य चास्यानुग्राह्यत्वादेव कीर्त्तिता।
प्रभावानास्पदतया वेद्यस्यात्र विभावता॥
(भ. र. सि. ३/४/४-५)

अपनेको कृष्णकी अपेक्षा बड़ा समझनेके कारण, शिक्षा–दाता होनेके कारण अथवा लालन–पालन करनेवाले होनेके नाते गुरुजन[३] इस रसमें आलम्बन–विभाव माने जाते हैं। व्रजरानी यशोदा, व्रजेश्वर नन्द महाराज, रोहिणी एवं गोपपत्नियाँ, जिनके बालकोंको ब्रह्माने चुरा लिया था, देवकी और उनकी सपत्नियाँ, कुन्ती, वसुदेव और सान्दीपनि मुनि आदि अन्यान्य व्यक्ति श्रीकृष्णके गुरुजन हैं। ये पूर्व–पूर्व क्रमसे श्रेष्ठ माने जाते हैं। व्रजेश्वरी और नन्द महाराज इनमें सर्वप्रधान हैं।

कौमार आदि[४] आयु, रूप, वेष, बाल–चापल्य, मधुर वाक्य, मन्द हास्य और क्रीड़ा आदि वात्सल्यरसके उद्दीपन हैं। इसमें आद्य, मध्य और शेष भेदसे कौमार तीन प्रकारका होता है। आद्य कौमारावस्थामें लेटे–लेटे बार–बार पैर चलाना, थोड़ी–थोड़ी देरमें रोना और हसना,

---

[३] अधिकन्मन्यभावेन शिक्षाकारितयापि च।
लालक्यवत्वादिनाप्यत्र विभावा गुरवो मताः॥
(भ. र. सि. ३/४/८)
ते तु तस्यात्र कथिता व्रजराज्ञी व्रजेश्वरः।
रोहिणी ताश्च वल्लव्यो याः पद्मजहृतात्मजाः॥
देवकी तत्सपत्न्यश्च कुन्ती चानकदुन्दुभिः।
सान्दीपनिमुखाश्चान्ये यथापूर्वममी वराः।
व्रजेश्वरीव्रजाधीशौ श्रेष्ठौ गुरुजनेष्विमौ॥
(भ. र. सि. ३/४/१०–११)

[४] आद्यं मध्यं तथा शेषं कौमारं त्रिविधं मतम्॥
(भ. र. सि. ३/४/१८)
घ्राणस्य शिखरे मुक्ता नवनीतं कराम्बुजे।
किंकिण्यादि च कट्यादौ प्रसाधनमिहोदितम्॥
(भ. र. सि. ३/४/२७)
अत्र किंचिद् कृशं मध्यमीषत्–प्रथिमभागुरः।
शिरश्च काकपक्षाढयं कौमारे चरमे सति॥
(भ. र. सि. ३/४/२९)
वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे वयस्यैः सह खेलनम्।
पावशृङ्गदलादीनां वादनाद्यत्र चेष्टितम्॥
(भ. र. सि. ३/४/३२)

अपने पैरका अँगूठा चूसना और चित्त लेटे रहना आदि क्रियाएँ होती हैं। इस अवस्थामें बघनखा, राखका तिलक, काजल, कमरमें काली रेशमी डोरी और हाथमें काला सूत्र आदि आभूषण होते हैं।

मध्य कौमारमें आँखों तक बाल लटकना, नङ्गा रहना, छिपे हुए कान, सुन्दर बोली और घुटनेके बल चलना आदि देखे जाते हैं। नाकके अग्रभागपर मोती धारण करना, हथेलीपर मक्खन और कमर आदिमें किङ्किणी इत्यादि इस अवस्थामें अलङ्कार हैं।

शेष कौमारमें कमर कुछ चौड़ी हो जाती है तथा सिर घुँघराले बालोंसे भर जाता है। व्रजके आसपासके वनमें बछड़ोंको चराना, सखाओंके साथ क्रीड़ा करना, छोटी वेणु और शृङ्ग आदिका बजाना आदि लीलाएँ इस अवस्थामें होती हैं।

अनुभाव

सिरका सूँघना, शरीरपर हाथ फेरना, आशीर्वाद और आज्ञा देना, लालन-पालन करना तथा हितोपदेश करना आदि वात्सल्यरसके अनुभाव हैं। इसमें चुम्बन, आलिङ्गन, नाम ले-लेकर पुकारना और उलाहना देना, मित्रोंके साथ तिरस्कार आदि साधारण व्यवहार होते हैं।[५]

स्तनोंसे दूध बहना और स्तम्भादि आठ—कुल नौ सात्त्विकभाव इस वात्सल्यरसमें होते हैं।

अपस्मार सहित प्रीति-भक्तिरसमें कहे गए व्यभिचारीभाव इस रसमें भी व्यभिचारीभाव हैं।[६]

---

[५] अनुभावाः शिरोघ्राणं करेणांगाभिमार्जनम्।
आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रतिपालनम्।
हितोपदेशदानाद्या वत्सले परिकीर्त्तिताः।
(भ. र. सि. ३/४/४१)
चुम्बाश्लेषौ तथाह्वानं नामग्रहणपूर्वकम्।
उपालम्भादयश्चात्र मित्रैः साधारणाः क्रियाः॥
(भ. र. सि. ३/४/४४)

[६] नवात्र सात्त्विकाः स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्च ते॥
(भ. र. सि. ३/४/४५) (*अगले पृष्ठपर*)

स्थायीभाव

अनुकम्पा करनेवाले गुरुजनोंकी अनुकम्पनीयके प्रति भय आदिसे रहित रतिको ही इसमें वात्सल्य नामक स्थायीभाव कहते हैं। यशोदा आदिकी वात्सल्यरति स्वभावतः प्रौढ़ा है। वह कभी प्रेमके समान, कभी स्नेहमयी, और कभी रागके तुल्य प्रकाशित होती है।(७)

वियोगके समय अनेकों व्यभिचारीभावोंकी सम्भावना रहनेपर भी इसमें चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जड़ता दैन्य, उन्माद और मोह आदि कुछ व्यभिचारीभावोंका ही उद्रेक अधिक रूपमें होता है।(८)

पण्डितजन चमत्कृत होकर वात्सल्यको प्रधान रस स्वीकार करते हैं। इस रसमें वत्सलता—स्थायीभाव है तथा पुत्रादि—आलम्बन हैं।(९)

वत्सलरसका उत्कर्ष

कृष्णके प्रति रतिकी प्रतीति न होनेपर प्रीतरसकी पुष्टि नहीं हो पाती है और प्रेयो–भक्तिरसका भी तिरोभाव हो जाता है। परन्तु वात्सल्यरसमें ऐसा होनेपर भी कोई हानि नहीं होती। यही वात्सल्य–रसका उत्कर्ष है। ये तीनों रस अत्यन्त अद्भुत हैं; तथापि

अत्रापस्मारसहिताः प्रीतोक्ताः व्यभिचारिणः॥
(भ. र. सि. ३/४/४९)

(७) सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते॥
यशोदादेस्तु वात्सल्यरतिः प्रौढा निसर्गतः।
प्रेमवत् स्नेहवद्भाति कदाचित् किल रागवत्॥
(भ. र. सि. ३/४/५२–५३)

(८) बहुनामपि सद्भावे वियोगेऽत्र तु केचन।
चिन्ताविषादनिर्वेदजाड्यदैन्यानि चापलम्।
उन्मादमोहावित्याद्या अत्युद्रेकं व्रजन्त्यमी॥
(भ. र. सि. ३/४/६४)

(९) स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्येह पुत्राद्यालम्बनं मतम्।
(भ. र. सि. ३/४/७८)

किसी-किसी स्थलपर रसमिश्रण भी लक्षित होता है।[१०] बलदेवकी सख्यप्रीति वात्सल्यरस मिश्रित है। युधिष्ठिरका वात्सल्यरस दास्य और सख्यसे मिश्रित है। उग्रसेनका दास्य वात्सल्य-मिश्रित है। वृद्ध अहीरोंका वात्सल्य सख्य-मिश्रित है। नकुल, सहदेव तथा नारदादिका सख्य दास्य-मिश्रित है। शिव, गरुड़ और उद्धवादिका दास्य सख्य-मिश्रित है। अनिरुद्ध आदि कृष्णके नातियोंकी प्रीति भी इसी प्रकार सख्यभावसे मिश्रित है।[११] दूसरे भक्तोंमें भी इसी प्रकार भावमिश्रण देखा जाता है। दास्यरसाश्रित व्यक्तिके लिए दास्यरस, सख्यरसाश्रित व्यक्तिके लिए सख्यरस और वात्सल्यरसाश्रित व्यक्तिके लिए वात्सल्यरस सर्वोत्तम होनेपर भी यह आगे दिखलाया जाएगा कि मधुररस ही सर्वोत्तम है और उसीकी सहायताके लिए उक्त तीनों रस कार्य करते हैं।

---

(१०) अप्रतीतौ हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्ठता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः॥
एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादिः परमाद्भुता।
तत्र केषुचिदप्यस्याः संकुलत्वमुदीर्यते॥
(भ. र. सि. ३/४/७९-८०)

(११) सङ्कर्षणस्य सख्यन्तु प्रीतिवात्सल्यसङ्गतम्।
युधिष्ठिरस्य वात्सल्यं प्रीत्या सख्येन चान्वितम्॥
आहुकप्रभृतीनान्तु प्रीतिर्वात्सल्यमिश्रिता।
जरदाभीरिकादीनां वात्सल्यं सख्यमिश्रितम्॥
माद्रेयनारदादीनां सख्यं प्रीत्या करम्बितम्।
रुद्रताक्ष्योर्द्धवादीनां प्रीतिः सख्येन मिश्रिता॥
अनिरुद्धादिनप्तृणामेवं केचिद्वभाषिरे।
एवं केषुचिदन्येषु विज्ञेयं भावमिश्रणम्॥
(भ. र. सि. ३/४/८१-८४)

सप्तम धारा
मधुरभक्तिरस

मधुररस

अधिकारी जीवोंके उपकारके लिए मधुररसकी तात्त्विकी-महिमाका वर्णन किया जा रहा है। मेरे द्वारा रचित जैवधर्मके इकतीसवें अध्यायमें इस रसके सम्बन्धमें विजय कुमार और श्रीमद् गोपालगुरु गोस्वामीके बीच परस्पर जो कथोपकथन वर्णित हुआ है, उसीका थोड़ा-सा अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। श्रद्धालु पाठकवर्ग एकाग्रमनसे इसपर विचारकर इसमें प्रवृत्त हों—

मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है

विजयकुमार बोले—"प्रभो! मुख्य रसोंमें मधुररसको अतिशय रहस्योत्पादक रस बतलाया गया है। ऐसा कहा भी क्यों न जाए? जब शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य—इन चारों रसोंके सभी गुण मधुररसमें नित्य विद्यमान हैं एवं उन रसोंमें जो कुछ चमत्कारिताका अभाव है, वह भी मधुररसमें सुन्दर और पूर्ण रूपसे प्रतिष्ठित है; तब मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। निवृत्ति-पथावलम्बी व्यक्तियोंका हृदय शुष्क होनेके कारण उनके लिए मधुररस नितान्त अनुपयोगी होता है। दूसरी तरफ मधुररस जड़धर्ममें सर्वथा विलक्षण होनेके कारण जड़ प्रवृत्तिवाले व्यक्तियोंके लिए दुर्बोध भी है। व्रजका मधुररस जब जड़ीय शृङ्गाररसमें सर्वथा विलक्षण है, तब तो वह सहज साध्य भी नहीं है। ऐसा अपूर्व यह अप्राकृत मधुररस सांसारिक स्त्री-पुरुषगत अत्यन्त हेय जड़रस जैसा क्यों दिखलाई पड़ता है?"

जड़जगत चित्-जगतका प्रतिफलन

गुरु गोस्वामी—"विजय! तुम यह भलीभाँति जानते हो कि जड़जगतकी सारी विचित्रताएँ चित्-तत्त्वकी विचित्रताका ही प्रतिफलन[१] है। जड़जगत भी चित्-जगतका प्रतिफलन (छाया) है। उसमें एक गूढ़ रहस्य यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपरीत धर्मयुक्त होती है। आदर्श (काया) में जो चीज सर्वोत्तम होती है, प्रतिफलनमें वही चीज सर्वाधम होती है। आदर्शमें जो निम्नस्थ दिखाई पड़ता है, वही प्रतिफलनमें उच्चस्थ दिखलाई पड़ता है, दर्पणमें कायाका जो प्रतिफलन होता है, उसमें अङ्गप्रत्यङ्ग विपरीत रूपमें दिखलाई पड़ते हैं। उसी प्रकार परम वस्तु अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे उसी शक्तिकी छायामें प्रतिफलित होकर जड़ीय सत्ताके रूपमें विस्तृत हुई है। अतएव परम वस्तुके धर्मसमूह जड़ीय सत्तामें विपरीत रूपमें दिखाई पड़ते हैं। परम वस्तुगत रस भी इसी प्रकार इस जड़जगतमें जड़ीय हेय रसके रूपमें प्रतिफलित हुआ है। जड़ीय रस—चिन्मय रसका

---

[१] श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये। अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि सभवामीत्यभि-सम्भवामीति।

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वावजिज्ञासितव्यमिति। तञ्चेदब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किन्तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वावविजिज्ञासित-व्यमिति स ब्रूयात्। यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्यचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति। स ब्रयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति, न वधेनास्य हन्यत एतत् सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः, एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य-संकल्पो यथाह्यवेह प्रजा अन्वाविशन्ति, यथाऽनुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति, यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति। यं यमन्तमभिकामो भवति, यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्टति, तेन सम्पन्नो महीयते। अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति। (छान्दोग्य उपनिषद्, ८वें प्रपाठकमें)

विपरीत प्रतिफलन है। परम वस्तुमें जो अपूर्व अद्भुत विचित्रतागत सुख है, वही परम वस्तुका रस है। वही रस जड़में प्रतिफलित होनेपर जड़बद्ध जीवकी चिन्ता द्वारा एक औपाधिक तत्त्वके रूपमें कल्पित होता है। ऐसी दशामें बद्धजीव निवृत्त निर्विशेष धर्मको ही परम वस्तु मानता है और निर्विशेष तत्त्वमें विचित्रताका निषेध रहनेके कारण समस्त प्रकारकी विचित्रताओंको ही जड़धर्म होनेकी कल्पना करता है। इस प्रकार वह निरुपाधिक सत्ता और सत्ताधर्मको जान नहीं पाता। जो लोग जड़युक्तिका सहारा लेते हैं, उनकी ऐसी ही गति होती है।

रसविचित्रता

वस्तुतः परमवस्तु रसरूपतत्त्व है। अतएव उसमें अद्भुत विचित्रताएँ हैं। जड़रसमें भी वे विचित्रताएँ प्रतिफलित रहनेके कारण जड़रसकी विचित्रताओंका अवलम्बन करनेसे अतीन्द्रिय रसका अनुभव (अनुमान) होता है। चिद्वस्तुमें जो रसविचित्रता है, वह इस प्रकार है—चित्–जगतमें शान्त धर्मगत शान्तरसरूप शिवलोक या निर्गुण ब्रह्मलोक सबसे नीचे स्थित है। उसके ऊपर दास्यरस या वैकुण्ठतत्त्व है। उसके ऊपर सख्यरस या गोलोकस्थ सख्यरस है। उससे भी ऊपर पित्रालयरूप नन्द–यशोदाका गृह है। वहाँ विशुद्ध वात्सल्यरस है। इन सबसे ऊपर मधुररसके आश्रय गोप–गोपियोंका स्थान है।

कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता—जीव भोग्य

जड़जगतमें मधुररस उलटे रूपमें सबसे नीचे दिखलाई पड़ता है। उसके ऊपर वात्सल्यरस, उससे भी ऊपर सख्यरस, सख्यरसके ऊपर दास्यरस एवं सबसे ऊपर शान्तरस प्रतीत होता है। जो लोग जड़धर्मके स्वभावका अवलम्बनकर रसतत्त्वका विचार करते हैं, वे लोग ऐसा सिद्धान्त स्थिरकर मधुररसको हेय (परित्याग करने योग्य), लज्जास्पद घृणित समझते हैं। चित्–जगतमें यह रस शुद्ध, निर्मल एवं अद्भुत रूपसे माधुर्यपूर्ण है। चित्–जगतमें कृष्ण और उनकी विविध शक्ति–परिणत पुरुष–प्रकृतियोंका जो सम्मिलन होता है, वह अत्यन्त

पवित्र एवं तत्त्वमूलक है। जड़जगतमें जो जड़ प्रत्यायित व्यवहार है, अर्थात् स्त्री-पुरुषका जो जड़ीय सम्बन्ध है, वही समाजके लिए लज्जास्पद है। विशेषतः चित्-जगतमें कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं एवं चित्सत्ताएँ (शक्तियाँ) इस रसकी प्रकृतियाँ (गोपरमणियाँ) हैं। अतएव यहाँ कोई धर्मविरोध नहीं है। जड़जगतमें कोई जीव भोक्ता है, तो कोई जीव भोग्य। वे एक दूसरेको भोग्य करना चाहते हैं। यह कार्य मूलतत्त्वका विरोधी है। अतएव लज्जा एवं घृणाका विषय है। तत्त्वतः एक जीव दूसरे जीवका भोक्ता नहीं है। सभी जीव भोग्य हैं एवं कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं। ऐसी दशामें जीवका भोक्ता बनना नित्य धर्मका विरोधी कार्य और वास्तवमें बहुत ही लज्जा एवं घृणाका विषय है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। प्रतिफलित एवं आदर्श विचारसे जड़ीय स्त्री-पुरुष व्यवहार एवं निर्मल कृष्णलीला—दोनोंमें सौसादृश्य देखा जाना स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी है। फिर भी एक अत्यन्त तुच्छ एवं दूसरा अत्यन्त उत्तम है।"

विजयने कहा—"प्रभो! यह अपूर्व विचार सुनाकर मुझे आपने कृतार्थ कर दिया। आपके मधुमिश्रित सिद्धान्त-श्रवणसे मेरा स्वतःसिद्ध विश्वास दृढ़ हो गया एवं मेरे संशय भी दूर हो गए। अब मैंने चित्-जगतके मधुररसकी स्थितिको समझ लिया। आहा! मधुररस! यह शब्द जिस प्रकार मधुर है, उसी प्रकार इसका अप्राकृत भाव भी परमानन्दको देनेवाला है। ऐसे अद्भुत मधुररसके रहते हुए भी जो लोग शान्तरसमें सुख पाते हैं, उनके समान दुर्भागा और कौन हो सकता है? प्रभो! मैं अत्यन्त गोपनीय मधुररसके विषयमें आपके पूरे विचारोंको जाननेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हूँ। आप कृपा करें।"

श्रद्धापूर्वक व्रजलीलाकी आलोचना

भक्त पाठक महोदय! आप तत्त्वविद् विजयकुमारकी भाँति अप्राकृत सौन्दर्यको समझकर इसमें विश्वासरूपी श्रद्धा उत्पन्न करें। उसी श्रद्धाके साथ व्रजलीलाका जितना ही अधिक अनुशीलन करेंगे, आपका चित्-स्वरूपगत अप्राकृत भाव भी उतना ही स्पष्ट रूपसे उदित होगा।

आलम्बन

गुरु–गोस्वामीने कहा—"विजय! सुनो, बतला रहा हूँ। कृष्ण ही मधुररसके विषयरूप आलम्बन हैं एवं कृष्णवल्लभाएँ (गोपियाँ) इस रसके आश्रयरूप आलम्बन हैं।[२] नवजलधरवर्ण, सुरम्य, मधुर, समस्त प्रकारके शुभ लक्षणोंसे युक्त, बलवान, नवयौवनसम्पन्न, सुवक्ता, प्रियभाषी, बुद्धिमान, प्रतिभायुक्त, धीर, विदग्ध (रसिक), चतुर, सुखी, कृतज्ञ, दक्षिण (अनुकूल), प्रेमवश्य, गम्भीर, श्रेष्ठ, कीर्त्तिमान, रमणीजन–मनोहारी, नित्य–नवीन, अतुलनीय केलि–सौन्दर्यशाली प्रियतम एवं अतुलनीय वंशीवादनशील श्रीकृष्ण इन गुणोंसे सर्वदा युक्त हैं। उनके चरणकमलोंकी शोभाको देखकर करोड़ों कामदेवोंका भी अभिमान चूर्ण–विचूर्ण हो जाता है। उनका प्रेमपूर्ण कटाक्ष सभीके चित्तको विमोहित कर देता है। वे ही युवतियोंके भाग्यफलरूपी दिव्य लीला–निधि हैं। अप्राकृत रूप–गुणोंसे परिपूर्ण कृष्ण ही एकमात्र नायक हैं। भक्ति द्वारा निर्मलता प्राप्त चित्तमें दिन–रात कृष्णकी स्फूर्त्ति होती है। अच्छा, यह तो बतलाओ कि शुद्धसत्त्व एवं मिश्रसत्त्वमें परस्पर क्या भेद है?"

शुद्धजीव शुद्धसत्त्व है

विजय कुमार प्रणत होकर कहने लगे—"जिसका अस्तित्व देखा जाए, वही सत्ता है। स्थिति–सत्ता, रूप–सत्ता, गुण–सत्ता और क्रिया–सत्तासे युक्त वस्तुको सत्त्व कहा जाता है। जो सत्त्व अनादि, अनन्त एवं नित्य–नवीन रूपसे वर्त्तमान है, भूत–भविष्यतरूप खण्डकालके अधीन नहीं है और सर्वदा चमत्कारितासे परिपूर्ण है, वही शुद्धसत्त्व है। वह शुद्ध चित्–शक्तिसे प्रकटित है। चित्–शक्तिकी छायारूपी जड़मायामें कालके भूत–भविष्यत आदि विकार होते हैं। जड़मायाधीन तत्त्वसमूहमें प्रारम्भ देखा जाता है। अतएव उनमें मायाके रजः और तमो धर्म सर्वदा वर्त्तमान हैं अर्थात् उनका अन्त भी है। ऐसे आदि

---

[२] अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।
(उ. नी. १/४)

और अन्तयुक्त सत्त्वको मिश्रसत्त्व कहते हैं। शुद्धजीव भी शुद्धसत्त्व हैं।[३] उनके रूप, गुण, क्रिया आदि भी शुद्धसत्त्वमय हैं। मायाबद्ध जीवके सत्त्वमें मायाके रजो-गुण और तमो-गुण मिले हुए हैं।"

गोस्वामी—"विजय! तुमने बहुत ही सूक्ष्म सिद्धान्त कहा। अब तुम यह तो बतलाओ कि जीवका हृदय किस प्रकार शुद्धसत्त्वके द्वारा उज्ज्वल होता है?"

हरि-गुरु-वैष्णवकी कृपासे शुद्धसत्त्वका उदय

विजय—"प्रभो! जब तक जीव जड़जगतमें बद्ध रहता है, तब तक उसका शुद्धसत्त्व निर्मल रूप उदित नहीं होता। जिस परिमाणमें जीवका शुद्धसत्त्व उदित होता है, उसी परिमाणमें जीव अपने स्वरूपका अनुभव भी प्राप्त करता है। किसी जड़ीय ज्ञानचेष्टा या कर्मचेष्टासे यह फल नहीं पाया जा सकता। यदि शरीरमें मल लगा हो, तो उस मलको दूसरे मलसे दूर नहीं किया जा सकता। जड़कर्म स्वयं ही मल होनेके कारण वह किस प्रकार मायाके मलको दूर कर सकता है? व्यतिरेकज्ञान (अभेद या निर्विशेषज्ञान) अग्निके समान है। वह मलदूषित सत्तासे स्पर्श प्राप्त होनेपर उस मूलसत्ता तकका विनाश कर डालता है। वह किस प्रकार निर्मल होनेका सुख प्रदान कर सकता है? इसलिए गुरु-वैष्णवोंकी कृपा द्वारा प्राप्त भक्तिसे ही शुद्धसत्त्वका उदय होता है। शुद्धसत्त्व ही हृदयको उज्ज्वल करता है। अब कृपया यह बतलाया जाए कि नायक कितने प्रकारके हैं?"

गोस्वामी—"विजय! कृष्ण धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त एवं धीरोद्धत—ये चार प्रकारके नायकत्वका प्रकाश करते हैं। इन चार प्रकारके नायकत्वमें वे पति और उपपति भेदसे दो प्रकारकी लीलाएँ करते हैं।"[४]

---

[३] सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे नमसाभिधीयते॥
(श्रीमद्भा. ४/३/२३)

[४] पूर्वोक्तधीरोदात्तादिचतुर्भेदस्य तस्य तु।
पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ॥ (उ. नी. १/१०)

(*अगले पृष्ठपर*)

पारकीयरस

विजय—"प्रभो! कृष्णका पतित्व और उपपतित्व किस प्रकारसे है?"

गोस्वामी—"यह बहुत ही गूढ़ रहस्य है। चित्-क्रिया एक रहस्यमणि है। उसमें भी पारकीय मधुररस उन मणियोंके बीच कौस्तुभमणि विशेष है। परतत्त्वमें निर्विशेष भावकी योजना करनेपर कोई रस ही नहीं रहता एवं "रसो वै सः" आदि वेदवाक्य भी व्यर्थ हो जाएँगे। निर्विशेष भावमें सुखका अत्यन्त अभाव होनेके कारण वह अनुपादेय (वरण करने अयोग्य) है। दूसरी ओर सविशेष भावका जितना प्रकाश होता है, उतना ही रसका विकास भी होता है। रसको मुख्य तत्त्व समझना होगा। निर्विशेष भावकी अपेक्षा कुछ मात्रामें सविशेष-ईश्वर भावका श्रेष्ठत्व है। शान्तरसके ईश्वर भावोंकी अपेक्षा दास्यरसका प्रभुभाव श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा सख्यभावमें रसका और उत्कर्ष है। वात्सल्यरस सख्यकी अपेक्षा और भी श्रेष्ठ है। मधुररस वात्सल्यकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। जिस प्रकार इन सभी रसोंमें क्रमशः एकसे दूसरेकी श्रेष्ठता देखी जाती है, उसी प्रकार स्वकीय मधुररसकी अपेक्षा पारकीय मधुररस अधिक उत्कृष्ट है। आत्मा और पर—ये दो तत्त्व हैं। आत्मनिष्ठ धर्मको आत्मारामता कहा जाता है। उसमें रसका अलग रूपसे सहाय न होनेके कारण वहाँ रसका अभाव है। श्रीकृष्णमें आत्मारामता-धर्म नित्य होनेपर भी साथ-ही-साथ उनमें लीलारामता-धर्म भी उसी प्रकार नित्य है। सभी विरुद्धधर्म परम

गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढ़व्रतः।
अकत्थनो गूढ़गर्वो धीरोदात्तः सुसत्वभृत्॥
विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवशः॥
शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः।
विनयादि गुणोपेतो धीरशान्त उदीर्यते॥
मात्सर्यवानहङ्कारी मायावी रोषणश्चलः।
विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृतः॥
(भ. र. सि. २/१/२२६, २३०, २३३, २३६)

सामञ्जस्यके साथ उनमें नित्य वर्त्तमान हैं।[५] यह परमपुरुष श्रीकृष्णका स्वाभाविक धर्म है। कृष्णतत्त्वके एक केन्द्रमें आत्मारामता एवं उसके विपरीत केन्द्रमें लीलारामताकी पराकाष्ठारूप पारकीयता है। नायक-नायिका अत्यन्त 'पर' होकर भी जब रागके द्वारा मिलित होते हैं, तब जो अद्भुत रस प्रकट होता है, वही पारकीयरस है। आत्मारामताकी ओर खिंचनेसे रस क्रमशः शुष्क हो जाता है। लीलारामताकी ओर जितना ही खींचा जाए, उतनी ही रसकी प्रफुल्लता भी बढ़ती है। जहाँ कृष्ण ही एकमात्र नायक हैं, वहाँ पारकीयता कदापि घृणाके योग्य नहीं हो सकती। जहाँ कोई साधारण जीव नायक होता है, वहाँ धर्म एवं अधर्मका विचार आ जाता है। अतएव पारकीयभाव उस अवस्थामें अत्यन्त हेय एवं घृणाके योग्य है। पारकीय पुरुष एवं परोढ़ा रमणीके परस्पर सम्भाषणको भी कवियोंने अत्यन्त तुच्छ एवं परित्याज्य कहा है। श्रीरूपगोस्वामीजीने कहा है कि साधारण अलङ्कारशास्त्रमें उपपतिकी जो लघुता या तुच्छता स्थिर की गई है, वह केवल प्राकृत नायकके सम्बन्धमें ही कही गई है। रसनिर्यास आस्वादनके लिए साक्षात् अप्राकृत पुरुष भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं कही जा सकती। जो पुरुष कन्याका पाणिग्रहण करता है, वही पति है।[६] अनुराग द्वारा उत्तेजित होकर पारकीय नायिकाकी प्राप्तिके लिए जो पुरुष विवाह-विधिरूप धर्मका उल्लंघन करते हुए उस नायिकाके प्रेमसर्वस्व होते हैं, उन्हें पण्डितोंने उपपति कहा है।[७]

---

[५] कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/१९)

[६] उक्तः पतिः स कन्याया यः पाणिग्राहको भवेत्॥
(उ. नी. १/११)

[७] रागेणोल्लंघयन् धर्मं परकीयाबलार्थिना।
तदीय प्रेमसर्वस्वं बुधैरुपपतिः स्मृतः॥
अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।
लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके॥
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि।
(उ. नी. १/१७, १९, २१)

जो स्त्री ऐहिक–पारत्रिक धर्म (जागतिक एवं स्वर्ग आदिके धर्मों) की उपेक्षा करते हुए विवाह–विधिका उल्लंघनकर पर–पुरुषमें आत्मसमर्पण करती है, वही परकीया है। कन्या एवं परोढ़ाके भेदसे पारकीया दो प्रकारकी है।[८] पाणिग्रहण–विधि द्वारा विवाहिता, पतिके आदेश–प्रतिपालनमें तत्पर एवं पतिव्रताधर्मसे अविचलित स्त्री ही स्वकीया है। कृष्णकी पुरवनिताएँ (द्वाराकापुरीकी स्त्रियाँ) स्वकीया हैं एवं व्रजवनिताएँ अधिकांश ही पारकीया हैं।"

विजय और गोपालगुरु गोस्वामीके परस्पर वार्त्तालापमेंसे स्थान–स्थानमें कुछ–कुछ परित्यागकर यहाँ तक ग्रहण किया गया है।

स्वकीया एवं पारकीया कृष्णवनिताओंकी अप्रकटलीलाकी स्थितिके सम्बन्धमें बतलाया जा रहा है। अप्रकटलीला गोलोकमें नित्य है; जिस प्रकार इस भौमव्रजमें दैनंदिन नित्यलीला होती है, गोलोकमें भी उसी प्रकारसे होती है। उसी प्रकार गोलोकमें जो द्रष्टा हैं, वे उस लीलाको यथार्थरूपमें ठीक–ठीक देख पाते हैं। क्योंकि वे मायातीत हैं। अतएव उनकी आँखें भी गुणातीत हैं। प्रपञ्चमें जो नित्यलीला है, वह भी उसी प्रकार की है। किन्तु आँखकान आदि जड़ेन्द्रियाँ मायाके गुणों द्वारा आच्छन्न रहनेके कारण यहाँके दर्शनकारी साधक कुछ दर्शन–दोषसे थोड़ा–सा माया–प्रत्यायित (मायिक विश्वासजनित) भाव देख, सुन पाते हैं। गोलोकमें जो नित्य पारकीय अभिमान है, वह प्रपञ्चमें वस्तुतः प्राकृतकी तरह जान पड़ता है। कृष्णलीलामें किसी प्रकारकी हेयता एवं जड़ता नहीं है, किन्तु गुणमय इन्द्रियोंकी हेयता और जड़ता हमारे लिए अपरिहार्य है। इस गोलोकतत्त्वको प्रपञ्चमें आए हुए गोपोंको कृष्णने दिखलाया था।[९]

---

[८] कन्यकाश्च परोढ़ाश्च परकीया द्विधा मताः।
व्रजेशव्रजवासिन्य एताः प्रायेण विश्रुता॥
प्रच्छन्नकामता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदा॥
(उ. नी. ३/१०)

[९] इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामासलोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥
(*अगले पृष्ठपर*)

गोपियोंकी पारकीयता सम्पूर्ण रूपसे निर्दोष

गोपियोंकी पारकीयतामें लेशमात्र भी लज्जा या दोष नहीं है। क्योंकि साधारण जड़-आलङ्कारिकोंके मतानुसार परोढ़ा एवं वेश्याकी जो निन्दाकी बात सुनी जाती है, वह यहाँ उपयुक्त नहीं बैठती। गोकुलकी रमणियाँ कृष्णकी नित्यशक्ति होकर भी गोलोकमें जो पारकीयरस आस्वादन करती हैं, वह रस सर्वोत्कृष्ट है। अप्राकृत रसिकशेखर श्रीकृष्णचन्द्रने उस रसास्वादको जगतमें लानेके लिए गोलोककी अपनी प्रियतमा गोपरमणियोंको गोकुल व्रजमें अवतरण कराया था; इसमें दोष क्या है? क्योंकि वे तो प्राकृत नायक नहीं हैं; यह सब कुछ केवल जीवोंके कल्याणके लिए ही हुआ है। ऐसा नहीं होनेसे जीव किस प्रकार मधुररस आस्वादनकर सर्वोत्तम रस पानेके योग्य होते? भक्तोंको गोपी होकर मधुररस द्वारा कृष्णकी सेवा ही करनी चाहिए। जो दुराचारी व्यक्ति कृष्ण बनकर इस रसका आस्वादन करनेका ढ़ोंग या कुचेष्टा करेंगे, वे अवश्यमेव अतिशीघ्र ही नरक-गमन करेंगे। शठ, धूर्त्त और कपटता परायण व्यक्ति ही ऐसा अपराध किया करते हैं।[१०]

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥
(श्रीमद्भा. १०/२८/१४-१५)

[१०] नेष्टा यदङ्गिनिरसे कविभिः परोढ़ास्तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां कंसारिण रसिकमण्डलशेखरेण॥
(साहित्यदर्पण)

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परोभवेत्॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/३६)

वर्त्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्नतु कृष्णवत्।
इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥
(उ. नी. ३/२४)

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(श्रीमद्भा. १०/४७/६१)

गोलोक-दर्शनका अधिकारी

कोटि–कोटि मुक्तोंमें एक भगवद्भक्त दुर्लभ है। जो लोग ऐश्वर्य भावके भक्त हैं, वे भी गोलोकका दर्शन नहीं कर पाते। वे लोग जड़मुक्त होकर वैकुण्ठमें अपने–अपने भावानुसार ऐश्वर्य–मूर्त्तिकी सेवा करते हैं। जो व्यक्ति व्रजरसके द्वारा कृष्णभजन करते हैं, उनमेंसे जिन्हें कृष्ण कृपाकर अशेष बन्धनसे मुक्तकर उद्धार करते हैं, वे ही गोलोक देख पाते हैं। वस्तुसिद्ध भक्त कृष्णकी कृपासे साक्षात् गोलोकमें चले जाते हैं। स्वरूपसिद्ध भक्तोंकी व्रजके भौमदेशमें गोपी–अभिमानसे अवस्थिति है। अत्यन्त तमोगुणी व्यक्ति व्रजभजन कालमें सब कुछ जड़मय देखते हैं। रजोगुणी व्यक्ति (साधक) उससे कुछ अच्छा दर्शन प्राप्त करते हैं। सत्वगुणी भक्त गोकुलमें गोलोकका आभास अनुभव करते हैं। निर्गुण व्रजभक्त अत्यन्त शीघ्र ही कृष्णकृपासे निर्गुण गोपीदेह द्वारा गोलोक प्राप्त करते हैं। मायिक विश्वास द्वारा उत्पन्न भाव जितना ही दूर होता है, उतना ही गोलोकका स्पष्ट अनुभव प्राप्त होता है। यशोदाका प्रसव, कृष्णका सूतिका–गृह, अभिमन्यु–गोवर्द्धन आदिके साथ नित्यसिद्धा गोपियोंका विवाहमूलक पारकीय अभिमान अत्यन्त स्थूल रूपसे व्रजमें देखा जाता है। यह सब कुछ ही योगमाया द्वारा सम्पन्न होता है एवं अत्यन्त सूक्ष्म मूलतत्त्वमें संयोजित है। यह परम सत्य है तथा सम्पूर्ण रूपसे गोलोककी ही समानतासे युक्त है। गोलोकमें उस–उस तत्त्वका केवल रसपोषक अभिमानमात्र नित्य वर्त्तमान है। व्रजरमणी अभिमानसे जो व्यक्ति अष्टकाल लीलासेवाके साधक हैं, वे लोग भौमव्रजकी प्रतीति (अनुभूति) अवलम्बन करेंगे। उसमें जिस परिमाणमें कृष्ण–कृपाकी प्राप्ति होगी, उसी परिमाणमें सेवाकी शुद्धता भी अपने आप ही आएगी। यदि कहो कि महाप्रलयमें क्या व्रजलीला नहीं रहती? उसका उत्तर यही है कि उस समय गोलोकमें ही सभी लीलाएँ विराजमान रहती हैं। अष्टकाल–साधनसे ही दैनंदिन नित्यलीला प्राप्त होती है। स्थिति–कालमें व्रजलीला चक्रकी तरह एक–एक ब्रह्माण्डमें घूम रही है। महाप्रलयमें सभी लीलाएँ गोलोकमें जाकर विराजमान

रहती हैं। अप्रकटलीला-कालमें माथुरधाम जीवके साधनानुकूल होकर तिरोहित नहीं होते। भौममण्डलमें ही चक्रकी तरह भ्रमण करते हैं। यह बात यहीं तक रखी जाए। अब मुख्य विषयकी ओर बढ़ें।

कृष्णका नायकत्व

हमारे कृष्णको छोड़कर और कोई दूसरा नायक नहीं है। वे कृष्ण द्वारकामें पूर्ण, मथुरामें पूर्णतर एवं व्रजमें पूर्णतम हैं। कृष्ण पति एवं उपपति भेदसे दो प्रकारसे स्थित हैं। अतएव तीनों धामोंमें वे छह प्रकारसे वर्त्तमान हैं। वे धीरोदात्तादि चार प्रकारके भेदसे चौबीस प्रकारके होते हैं। अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भेदसे चौबीसका चारगुणा करनेसे कृष्ण कुल छियानवे प्रकारके नायक होते हैं। स्वकीयरसमें चौबीस प्रकार एवं परकीयरसमें चौबीस प्रकार। व्रजमें कृष्णका परकीय-नायकत्व चौबीस प्रकारसे नित्य वर्त्तमान हैं।[११] व्रजनायक श्रीकृष्णका अवलम्बनत्व संक्षेपमें यहीं तक दिखलाया गया।

नायकके सहाय

नायकके सहायक पाँच प्रकारके हैं[१२]—चेट, विट्, विदूषक, पीठ-मर्दक एवं प्रिय-नर्मसखा। ये सभी नर्म वाक्य प्रयोगमें निपुण,

---

(११) अनुकूलदक्षिणशठाधृष्टश्चेति द्वयोरथोच्यन्ते।
प्रत्येकं चत्वारो भेदा युक्तिभिरमी वृत्त्या॥
(उ. नी. १/२३)
उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैस्त्रिभिः पूर्णतमादिभिः।
द्वादशात्मा चतुर्विंशत्यात्मा पत्यादियुग्मतः॥
नायकः सोऽनुकूलाद्यैः स्यात् षण्णवतिधोदितः॥
(उ. नी. १/४२-४३)

(१२) अथैतस्य सहायाः स्युः पञ्चधा चेटको विटः।
विदूषकः पीठमर्दः प्रियनर्मसखस्तथा॥
नर्मप्रयोगे नैपुण्यं सदा गाढ़ानुरागिता।
देशकालज्ञता दाक्ष्यं रुष्टगोपी-प्रसादनम्।
निगूढ़मन्त्रणेत्याद्याः सहायानां गुणा मताः॥
(उ. नी. २/१-२)

(*अगले पृष्ठपर*)

गाढ़ अनुरागी, देश–कालके ज्ञाता, गोपियोंको प्रसन्न करनेवाले एवं निगूढ़ मन्त्रणाओंके विषयमें अभिज्ञ हैं। सन्धान–चतुर, गूढ़–कर्मा और प्रगल्भ बुद्धिवाले भंगुर–भृङ्गर आदि गोकुलमें कृष्णका चेट–कार्य करते हैं। वेश–रचनाकी कलामें कुशल, धूर्त्त, कथोपकथनमें चतुर एवं वशीकरणादि क्रियामें कुशल कड़ार, भारतीबन्ध आदि कृष्णके विट् हैं। भोजनप्रिय, कलहप्रिय, अङ्ग–भङ्गिमें पटु, वाक्–चतुर और वेश आदि द्वारा हसानेवाले वसन्तादि गोप और मधुमङ्गल आदि कृष्णके विदूषक हैं। नायककी तरह गुणवान होकर भी नायकके अनुसरणकारी श्रीदाम कृष्णके पीठ–मर्दक हैं। अत्यन्त गूढ़ रहस्यको जाननेवाले सखीभावाश्रित सुबल और अर्जुनादि कृष्णके प्रियनर्म सखा हैं तथा अन्य प्रणयीजनोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। चेटगणोंका दास्यरस, पीठ–मर्दकोंका वीररस एवं दूसरोंका सख्यरस है। चेट लोग किङ्कर हैं और दूसरे चार प्रकारके सभी सखा हैं।

दूती

दूतियाँ सहाय करनेवालियोंमें परिगणित हैं। दूतियाँ दो प्रकारकी हैं—स्वयं–दूती एवं आप्त–दूती। कटाक्ष और वंशीध्वनि स्वयं–दूती हैं। प्रगल्भ वचनोंमें चतुर वीरा एवं चाटु (प्रशंसामयी) उक्तियोंमें चतुर वृन्दा—ये दोनों कृष्णकी आप्त–दूतियाँ हैं। लिङ्गिणी, दैवज्ञा और शिल्पकारिणी आदि कृष्णकी अनेक साधारणी दूतियाँ हैं।

गोपियोंके प्रकार भेद

कृष्णवल्लभा गोपियाँ इस रसके आश्रयरूप आलम्बन हैं। स्वकीया और परकीया भेदसे वे दो प्रकारकी हैं। व्रजमें स्वकीया गोपियोंका परिचय अस्पष्ट है। व्रजमें परकीया कृष्णवल्लभाओंका ही विशेष परिचय है। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी व्रजवासिनी प्रियाएँ प्रायः ही परकीया हैं; क्योंकि परकीया रमणीके बिना मधुररसका अत्यन्त

चतुर्विधाः सखायोऽत्र चेटः किङ्कर इर्ष्यते।
पीठमर्दस्य वीरादावपि साहाय्यकारिता॥
(उ. नी. २/१६)

उत्कृष्ट विकास नहीं होता। सम्बन्धयोगके कारण पुरवनिताओंका रस संकुचित है। विशुद्ध कामके कारण व्रजललनाओंका रस असंकुचित एवं कृष्णका अधिक सुख विधान करता है। शृङ्गाररसके ज्ञाता रुद्रका कहना है कि स्त्रियोंकी वामता एवं दुर्लभताके कारण निवारणादि जो प्रतिबन्धकताएँ (विघ्न) हैं, वे ही कन्दर्प (कामदेव) के परम अस्त्र हैं। विष्णुगुप्तने भी यही बात कही है। जब परोढ़ा व्रजवासिनियाँ कृष्णभोगकी लालसा करती हैं, उस समय वे सहज ही सर्वोत्तम शोभा एवं सद्गुण-वैभव द्वारा प्रेम और सौन्दर्यसे पूर्ण रूपमें भूषित हो जाती हैं। लक्ष्मी आदि शक्तियोंमें इस प्रकारसे रसमाधुर्यकी वृद्धि नहीं होती। साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया भेदसे व्रजगोपियाँ तीन प्रकारकी हैं। साधनपरा सुन्दरियाँ यौथिकी और अयौथिकी भेदसे दो प्रकारकी हैं। यूथमें मिलित होनेके कारण मुनिचरी और उपनिषदचरी गोपियाँ व्रजमें यौथिकी कहलाती हैं।

त्रेतायुगमें बहुतसे गोपालोपासक मुनि बहुत समयतक अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके थे। सौभाग्यवश उन्होंने दण्डकारण्यमें भगवान् श्रीरामचन्द्रका सौन्दर्य देखकर बड़े व्याकुल होकर अपनी अभीष्टसिद्धिके लिए उनसे मन-ही-मन प्रार्थना की। श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे कालान्तरमें उन्होंने ही व्रजमें गोपियोंके रूपमें जन्म लिया था। सूक्ष्मदर्शी महोपनिषदोंने बहुत समय तक गोपीभावकी प्राप्तिके लिए कठोर साधना करके श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाके समय व्रजमें गोपीरूपमें जन्म लिया था। ये भी यौथिकी कहलाती हैं।

ब्रह्माकी आज्ञासे जिन सब देवियोंने व्रजमें कृष्णसेवाके लिए गोपी रूपमें जन्म लिया था और जब कृष्णने अपने अंशसे स्वर्गमें अवतार लिया था, उस समय जिन देवियोंने उनकी सेवाकी थी, उन्हें ही व्रजमें देवी कहा जाता है। ये देवियाँ श्रीमती राधिकाजीकी प्राणसखियोंमें गिनी गई हैं। वेदमाता गायत्री गोपीजन्ममें कृष्णका सङ्ग प्राप्तकर कामगायत्री बन गई।

नित्यसिद्धाओंके सम्बन्धमें योगमाया रचित जो व्रज-व्यापार है, वह सम्पूर्ण निर्दोष है। क्योंकि वह माया जड़माया नहीं है। योगमायारूपा चित्-शक्तिने ही कृष्णकी इच्छासे इस व्रज-व्यापारका विधान किया

है। नित्यसिद्धाओंके साथ सालोक्य प्राप्त करते हुए उपनिषद्, गायत्री देवी एवं स्वर्गकी देवियोंने परकीयाभावसे कृष्णकी सेवा की थी।

श्रीराधा एवं चन्द्रावली जिनमें सर्वप्रधान हैं, ऐसी नित्यप्रियाएँ व्रजमें कृष्णकी तरह सौन्दर्य–वैदग्ध्यादि गुणोंके आश्रय हैं। सच्चिदानन्दरूप परमतत्त्वका आनन्दांश जब चिदंशको क्षोभित करता है, तब उससे पृथक् कृत ह्लादिनी–प्रतिभावित श्रीमती राधिकादि जो गोपललनाएँ उदित होती हैं,[१३] उनके साथ एवं अपने रूप अर्थात् चित्–स्वरूप द्वारा जो चौसठ कलाएँ उदित होती हैं, उन सभीके साथ अखिलात्मभूत श्रीकृष्ण गोलोकधाममें नित्यलीला करते हैं।

यूथेश्वरी

स्कन्दपुराण एवं प्रह्लाद–संहिता आदि शास्त्रोंमें[१४] श्रीराधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा,

---

[१३] आनन्द–चिन्मय–रस प्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/३७)

[१४] तत्र शास्त्र–प्रसिद्धास्तु राधा चन्द्रावली तथा।
विशाखा ललिता श्यामा पद्मा शैव्या च भद्रिका।
तारा विचित्रा गोपाली धनिष्ठा पालिकादयः॥
चन्द्रावल्येव सोमाभा गान्धर्वा राधिकैव सा।
अनुराधा तु ललिता नैतास्तेनोदिकाः पृथक्॥
यूथाधिपत्येऽप्यौचित्यं दधाना ललितादयः।
स्वेष्टराधादिभावस्य लोभात् सख्यरुचिं दधुः॥
(उ. नी. ३/५६, ५७, ६१)

तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
यूथोयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्या मृगीदृशः॥
तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥
गोपालोत्तरतापन्यां यद्गान्धर्वेति विश्रुता।
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता।
अतस्तदीयमाहात्म्यं पाद्मे देवर्षिणोदितम्॥ (*अगले पृष्ठपर*)

गोपाली, धनिष्ठा, पाली आदि गोपियोंके नामोंका उल्लेख किया गया है। श्रीमती चन्द्रावलीका दूसरा नाम सोमाभा एवं श्रीमती राधिकाजीका दूसरा नाम गान्धर्वा है। कंजनाक्षी, मनोरमा, मङ्गला, विमला, लीला, कृष्णा, शारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शङ्करी और कुंकुमा आदि व्रजाङ्गनाएँ भी लोक-प्रसिद्ध हैं। ये सभी गोपियाँ यूथेश्वरी हैं। यूथ भी सैकड़ोंकी संख्यामें हैं। प्रत्येक यूथमें सभी वराङ्गनाएँ लाखोंकी संख्यामें हैं। विशाखा, ललिता, पद्मा और शैव्या—ये अत्यन्त विशेष रूपसे कीर्त्तित हुई हैं। यूथेश्वरियोंमें श्रीमती राधा आदि आठ गोपियाँ सौभाग्यकी अधिकताके कारण प्रधाना हैं। विशाखा, ललिता, पद्मा, शैव्या आदि यूथके आधिपत्यमें विशेष योग्य होनेपर भी श्रीमती राधिकाजीके परमानन्दमय भावसे मुग्ध होकर विशाखा और ललिता श्रीराधाके अनुगत एवं पद्मा और शैव्या श्रीचन्द्रावलीके अनुगत हैं। श्रीमती राधिका सभी यूथेश्वरियोंमें प्रधान हैं। उनके यूथमें अधिकांश ही ललिताजीके गणके रूपमें परिचित हैं, कोई-कोई विशाखाके गणमें हैं। परमसौभाग्यसे ही श्रीमती ललिताजीके यूथमें प्रवेश प्राप्त होता है।

श्रीमती राधिकाका सर्वश्रेष्ठत्व

श्रीमती राधा एवं श्रीमती चन्द्रावली—इन दोनोंमें श्रीमती राधा साक्षात् महाभावस्वरूपा हैं। अतएव वे समस्त गुणों द्वारा परिपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ हैं। तापनी-श्रुति एवं ऋक्-परिशिष्टमें श्रीराधामाधवकी उज्ज्वलताका वर्णन किया गया है। श्रीमती राधिकाजी ह्लादिनी-शक्तिकी सारभावरूपा एवं सुष्ठुकान्तस्वरूपा हैं। वे सोलह शृङ्गारसे देदीप्यमान एवं द्वादश अलङ्कारोंसे सुशोभित हैं। उनके स्वरूपकी शोभा

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥
ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता॥
सुष्ठु कान्तस्वरूपेयं सर्वदा वार्षभानवी।
घृतषोड़शशृङ्गारा द्वादशाभरणाश्रिता॥
(उ. नी. ४/१, ३-७)

ऐसी महिमायुक्त है कि शृङ्गार एवं अलङ्कार उसके सामने अत्यन्त फीके पड़ जाते हैं। सुकुंचित केश, चञ्चल मुखकमल, दीर्घ नेत्र, वक्षस्थलमें अपूर्व स्तनद्वय, मध्यदेश क्षीण, दोनों कन्धे शोभित और हाथोंमें नखरत्न विराजमान हैं। तीनों जगतमें ऐसा रूपोत्सव नहीं होनेके कारण उनको सुष्ठुकान्तस्वरूपा कहा जाता है। स्नान, नासाग्रमें मणिकी उज्ज्वलता, नीले वस्त्र, कमरमें नीवि, मस्तकपर वेणी, कानोंमें झुमके, अङ्गोंमें चन्दन–लेपन, केशोंमें पुष्प–विन्यास, गलेमें माला, हाथमें पद्म, मुखमें ताम्बूल, चिबुक (ठोड़ी) में कस्तूरी बिन्दु, आँखोंमें काजल, चित्रित कपोल, चरणोंमें महावर, ललाट–फलकमें तिलक—ये सोलह शृङ्गार अर्थात् देहशोभा है। चूड़ामें अपूर्व मणि, कानोंमें रत्न–कुण्डल, नितम्बमें काञ्ची, गलेमें सुवर्ण–पदक, कानोंके ऊपरको भागमें किये गये छिद्रमें स्वर्ण–शलाका, हाथोंमें वलय, कण्ठमें कण्ठ–भूषण, उँगलियोंमें अगूँठियाँ, गलेमें ताराहार, भुजाओंमें अङ्गद, चरणोंमें रत्न–नूपुर एवं पदांगुलियोंमें अगूँठियाँ—इस प्रकार बारह आभरण श्रीमती राधिकाजीके अङ्गोंमें शोभा पाते हैं।

पच्चीस प्रधान गुण

वृन्दावनेश्वरी राधाजी कृष्णकी तरह असंख्य गुणविशिष्ट हैं। उन गुणोंमें पच्चीस प्रधान हैं—(१) वे मधुरा अर्थात् चारुदर्शना हैं, (२) नववया अर्थात् किशोर वयसविशिष्ट हैं, (३) चलापाङ्गी अर्थात् चञ्चल अपाङ्ग (दृष्टि) से युक्त हैं, (४) उज्ज्वल–स्मिता अर्थात् आनन्दमय हास्ययुक्त हैं, (५) चारु सौभाग्यकी रेखायुक्त अर्थात् उनके पादादिमें चन्द्ररेखा है, (६) गन्ध द्वारा माधव (कृष्ण) को उन्मादित करती हैं, (७) सङ्गीत कलामें अभिज्ञ हैं, (८) रम्य वचनयुक्त, (९) नर्मपण्डिता (हास–परिहासमें कुशल) हैं, (१०) विनीता, (११) करुणासे पूर्णा, (१२) विदग्धा, चतुर, (१३) पाटवान्विता, पटु, (१४) लज्जाशीला, (१५) सुमर्यादा अर्थात् साधुमार्गसे अविचलिता हैं, (१६) धैर्यशालिनी, (१७) गाम्भीर्यशालिनी, (१८) सुविलासा, (१९) महाभाव परमोत्कर्ष–तर्षिणी, (२०) गोकुलप्रेम वसति, (२१) जगद्–श्रेणीलसद्यशा (जिनका यश अनन्त जगतमें व्याप्त है), (२२) गुर्वार्पित गुरुस्नेहा

(गुरुजनोंके अत्यन्त स्नेहास्पद हैं), (२३) सखियोंके प्रणयके अधीन हैं, (२४) कृष्ण-प्रियावलीमें मुख्या हैं, (२५) सन्ततास्रवकेशवा अर्थात् केशव सर्वदा उनकी आज्ञाके अधीन रहते हैं।

पचास सौभाग्यरेखाएँ

वराहसंहिता, ज्योतिस्शास्त्र, स्कन्दपुराणके काशीखण्ड, मत्स्य-पुराण और गरुड़पुराणादिमें सौभाग्य रेखाओंका वर्णन इस प्रकार किया गया है—(१) **बाँये चरणके अँगूठेके मूलमें** जव-रेखा, (२) उसके नीचे चक्र, (३) मध्यमाके तलमें कमल, (४) कमलके नीचे ध्वजा, (५) पताका, (६) मध्यचरणके बीचमें उर्द्धवरेखा, (७) कनिष्ठ अँगुलीके नीचे अंकुश, फिर (१) **दाएँ चरणके अगूँठेके मूलमें** शंख, (२) एक ओर मत्स्य, (३) कनिष्ठ अँगुलीके नीजे वेदी, (४) मत्स्यके ऊपर रथ, (५) शैल या पर्वत, (६) कुण्डल, (७) शक्तिचिह्न। **बाँयी हथेलीमें** (१) तर्जनी-मध्यमा अँगुलियोंकी सन्धिसे कनिष्ठ अँगुलीके नीचेतक परमायु-रेखा, (२) उसके नीचे हाथसे प्रारम्भकर तर्जनी एवं अँगूठेके मध्य-देशगत दूसरी रेखा, (३) अँगूठेके नीचे मणिबन्धसे उठकर वक्रगतिसे मध्य-रेखामें मिलित होकर तर्जनी-अँगूठेके मध्य-भागगत तीसरी रेखा, (४) अँगुलियोंके अग्रभागमें नन्द्यावर्त्तरूप पाँच चक्राकार चिह्न। सभी मिलकर आठ हुए। (९) अनामिकाके नीचे-नीचे कुञ्जर (हाथी), (१०) परमायु रेखाके नीचे वाजी (घोड़ा), (११) मध्य-रेखाके नीचे वृष (साँड), (१२) कनिष्ठा अँगुलीके नीचे अंकुश, (१३) व्यजन (पंखा), (१४) श्रीवृक्ष, (१५) यूप (विजयस्तम्भ), (१६) बाण, (१७) तोमर, (१८) माला। **दक्षिण (दाईं) हथेलीमें** बाई हथेलीकी तरह परमायु आदिकी तीन रेखाएँ। उँगुलियोंके अग्रभागमें पाँच शंख सभी मिलकर आठ हुए। (९) तर्जनीके नीचे चामर, (१०) कनिष्ठा उँगुलीके नीचे अंकुश, (११) प्रासाद, (१२) दुन्दुभि, (१३) वज्र, (१४) शकटयुक्त, (१५) कोदंड (धनुष), (१६) असि (तलवार), (१७) भृङ्गार। बायें चरणमें सात। दक्षिणमें आठ। बायें हाथमें अठारह। दक्षिण हाथमें सत्तरह। एक साथ ये—पचास चिह्न सौभाग्य रेखाएँ हैं।

जीवोंमें बिन्दु–बिन्दु रूपमें ये सभी गुण हैं। देवताओंमें ये सब गुण कुछ अधिक परिमाणमें हैं। श्रीमती राधिकामें ये सभी गुण पूर्णतम रूपसे वर्त्तमान हैं; उनके समस्त गुण ही अप्राकृत हैं। गौरी आदि देवियोंमें इन सभी गुणोंकी शुद्धता और पूर्णता नहीं है। श्रीमती राधिकाजीमें समस्त गुणोंकी चमत्कारिताकी पराकाष्ठा है।

श्रीराधाजीका यूथ ही सर्वोत्तम

श्रीराधाजीका यूथ ही सर्वोत्तम है। उस यूथकी सभी ललनाएँ सर्व सद्‌गुण–भूषिता हैं; उनके विलास–विभ्रम माधवको सर्वदा आकर्षण करते हैं। श्रीराधाजीकी सखी, नित्यसखी, प्राणसखी प्रियसखी एवं परमप्रेष्ठसखी—पाँच प्रकारकी सखियाँ है।[१५] कुसुमिका, वृन्दा, धनिष्ठा आदि सखियाँ हैं। कस्तूरी, मणि–मञ्जरी आदि नित्यसखियाँ हैं। शशिमुखी, वासन्ती, लासिका आदि सभी प्राणसखियाँ प्रायः ही वृन्दावनेश्वरीकी स्वरूपता–प्राप्त हैं। कुरङ्गाक्षी, सुमध्या, मदनालसा, कमला, माधुरी, मञ्जुकेशी, कन्दर्पसुन्दरी, माधवी, मालती, कामलता, शशिकला आदि प्रियसखियाँ हैं। ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुरेखा, रङ्गदेवी एवं सुदेवी—ये आठ सखियाँ सभी सखियोंमें प्रधान हैं। ये सभी परमश्रेष्ठसखियाँ कहलाती हैं। ये युगल राधाकृष्णके प्रेमकी पराकाष्ठाके कारण स्थलविशेषमें कभी कृष्णके प्रति एवं कभी राधाके प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शन करती हैं। प्रत्येक यूथमें जो गौण विभाग है, उसका नाम गण है।

जड़ और पारकीयरस

व्रजलीलामें अत्यन्त क्षुद्र मायोपाधिक विवाह–विधिके लिए कोई स्थान नहीं है। वे गोलोकविहारी श्रीकृष्ण जब अपने परम पारकीय–

---

[१५] तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः सख्यः पञ्चविधा मताः।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन।
प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठ सख्यश्च विश्रुताः॥
(उ. नी. ४/५०)

रसको प्रपञ्चमें गोकुलके साथ आविर्भूत कराते हैं, तब गोकुल ललनाओंका वह पारकीयरस जड़रसकी तरह निन्दनीय नहीं हो सकता। गोकुललललनाओंके लिए कृष्णमें केवल नन्दनन्दनत्वकी ही स्फूर्त्ति होती है। उसी निष्ठा द्वारा जिन भावमुद्राओंका उदय होता है, वे अभक्त तार्किक-व्यक्तियोंके लिए तो दूर रहें, वैधमार्गके भक्तोंके लिए भी दुर्गम (दुर्ज्ञेय) है। गोपियोंके दर्शनमात्रसे कृष्णकी चतुर्भुजता लुप्त हो जाती है।

नायिका भेद

नायिकाएँ तीन प्रकारकी हैं—(१) स्वकीया, (२) परकीया और (३) सामान्या। चित्-रसकी स्वकीया-परकीया रमणियोंके विषयमें बतला चुका हूँ। जड़-आलङ्कारिक वेश्याओंको सामान्य नायिका कहते हैं; किन्तु वे केवल अर्थलोभी होती हैं, गुणहीन नायकके प्रति द्वेष एवं गुणवान नायकके प्रति अनुराग नहीं करती। उनका शृङ्गार केवल शृङ्गाराभासमात्र है। मथुरावासिनी सैरन्ध्री (कुब्जा) साधारणी होनेपर भी किसी प्रकारकी भावयोग्यताके कारण उसे परकीया-साधारणी कहा जाता है। कृष्णरूप दर्शनकर उनके अङ्गोंमें चन्दन-दानकी स्पृहा ही उसका अप्राकृत प्रियत्वभाव है। उसकी रति महिषियोंकी रतिकी अपेक्षा न्यून-जातीया है। स्वकीया और परकीया—ये दोनों नायिकायें सात-सात प्रकारकी होती हैं अर्थात् मुग्धा—एक, मध्या—तीन और प्रगल्भा भी तीन प्रकारकी है। इस प्रकार स्वकीयाके सात तथा परकीयाके सात—ये चौदह और कन्यका—एक, इन कुल पन्द्रह प्रकारकी नायिकाओंका वर्णन किया गया है।

नायिकाकी अवस्था

नायिकाओंकी अवस्था भेदसे वे आठ प्रकारकी हैं—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषित-भर्त्तृका एवं स्वाधीनभर्त्तृका। पहले कहे गए पन्द्रह प्रकारकी कृष्ण-नायिकाओंकी ही ये आठ प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं।

जब कृष्ण, नायिकाके प्रेमके वशीभूत होकर क्षणकाल भी उसका त्याग करनेमें समर्थ नहीं होते, तब उस स्वाधीनभर्तृका, नायिकाको माधवी कहा जाता है। आठ नायिकाओंमें स्वाधीनभर्तृका, वासकसज्जा एवं अभिसारिका—ये तीनों प्रकारकी नायिकाएँ प्रसन्नचित्त होकर अलङ्कारादि धारण करती हैं। खण्डिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, प्रोषितभर्तृका एवं कलहान्तरिता—ये पाँचों प्रकारकी नायिकाएँ भूषण–रहित होकर बाँयें कपोलपर हाथ रखकर खेद एवं चिन्तासे सन्तप्त रहती हैं। कृष्णप्रेममें सन्तापादि भी चिन्मय परमानन्दकी ही विचित्रताएँ हैं। प्रेम–तारतम्यके क्रमानुसार सभी नायिकाएँ उत्तमा, मध्यमा एवं कनिष्ठादि भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। जिस नायिकाका कृष्णके प्रति जिस परिमाणमें भाव होता है, कृष्णका भी उस नायिकाके प्रति उसी परिमाणमें भाव होता है। उत्तम नायिका कृष्णको क्षणकाल सुख–प्रदान करनेके लिए निखिल कर्मोंका भी त्याग कर देती है। कृष्णके क्लेशके संवादको सुनकर उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। मध्यमाका चित्त नायककी क्लेश–वार्त्तासे खिन्नमात्र होता है। नायकके साथ मिलनेकी बाधाओंसे जो नायिकाएँ डरती हैं, वे कनिष्ठा हैं। इस प्रकार नायिकाएँ तीन सौ साठ प्रकारकी होती हैं। पहले जो पन्द्रह प्रकारका भेद बतलाया गया है, उसे आठ गुणा करनेपर एक सौ बीस होता है; उसे अन्तमें कहे गए तीन भेदसे गुणा करनेपर तीन सौ साठ होता है। कृष्णकी नायिकाओंके ये सभी भजनभाव हैं।

यूथेश्वरियोंके सुहृदादि व्यवहार स्वपक्ष, विपक्ष एवं तटस्थ भेदसे तीन प्रकारके होते हैं।

दूती

कृष्ण–दर्शनकी तृष्णायुक्त नायिकाओंकी सहायकारिणी दूतियाँ स्वयं दूती एवं आप्त–दूती भेदसे दो प्रकारकी हैं। जो नायिका अनुराग–मोहिता होकर नायकके प्रति स्वयं ही भाव प्रकाश करती है, वह **स्वयं–दूती** है। अभियोग कायिक, वाचिक एवं चाक्षुष भेदसे तीन प्रकारका है। व्यङ्ग ही वाचिक अभियोग है। वह शब्द–व्यङ्ग एवं अर्थ–व्यङ्ग भेदसे दो प्रकारका है। कृष्णके प्रति साक्षात् एवं व्यपदेश द्वारा व्यङ्ग दो

प्रकारसे कार्य करता है। स्वार्थ एवं परार्थ भेदसे याचना या प्रार्थना दो प्रकारकी होती है। इसमें अपदेश[१६] एवं व्यपदेश[१७] भी होता है। विश्वस्ता, स्नेहवती एवं वाग्मिनी (बातचीतमें चतुर) दूतियाँ व्रज-सुन्दरियोंकी **आप्त-दूतियाँ** हैं। अमितार्था[१८], निसृष्टार्था[१९] एवं पत्रहारी[२०] भेदसे दूतियाँ तीन प्रकारकी होती हैं। शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिङ्गिनी, परिचारिका, धात्रेयी, वनदेवी एवं सखी इत्यादि भी दूतियोंमें परिगणित हैं। चित्रकारिणी चित्र द्वारा और दैवज्ञा दूती राशिफलादि कहकर मिलन कराती हैं। पौर्णमासीकी तरह तापसादि वेशधारिणी लिङ्गिनी दूतियाँ हैं। लवङ्ग-मञ्जरी, भानुमती आदि कुछ सखियाँ परिचारिका दूतियाँ हैं। राधिकाजीकी कुछ धात्रेयी सखियाँ भी दूती होती हैं। वनदेवी वृन्दावनकी अधिष्ठात्रीदेवी हैं। सखियाँ शब्द-व्यङ्ग एवं अर्थ-व्यङ्ग द्वारा दूतीका कार्य करती हैं।

उसमें शब्दमूलक एवं अर्थमूलक व्यपदेश, प्रशंसा-आक्षेपादि सभी प्रकारके अभियोग हैं। दौत्य-कार्यमें नियुक्त सखियाँ निर्जनमें कृष्णसे मिलित होनेपर कृष्ण उनके संगमकी प्रार्थना करते हैं। किन्तु सखियाँ उसके लिए सहमत नहीं होती। सखियोंकी सोलह प्रकारकी क्रियाएँ वर्णित हैं।

सखियोंके कार्य

(१) नायक-नायिकाके गुणोंका एक-दूसरेके निकट वर्णन करना, (२) परस्परकी आसक्तिको बढ़ाना, (३) परस्परका अभिसार करना, (४) कृष्णके निकट सखी-समर्पण, (५) परिहास, (६) आश्वासन देना, (७) नेपथ्य अर्थात् वेश-रचना, (८) परस्परका मनोगत भाव उद्घाटन करना, (९) दोष-छिद्र आदिका गोपन, (१०) पति आदिकी वञ्चना करना, (११) शिक्षा-प्रदान एवं उचित कालमें नायक-

---

[१६] अपदेश—वाच्य विषयकी अन्यार्थ-कल्पना।

[१७] व्यपदेश—छल द्वारा अपनी अभिलाषाको प्रकट करना।

[१८] अमितार्था—इंगित समझकर मिलन-संयोग करनेवाली दूती।

[१९] निसृष्टार्था—युक्ति द्वारा मिलन करानेवाली दूती।

[२०] पत्रहारी—पत्र द्वारा सन्देश ले जानेवाली दूती।

नायिकाका मिलन कराना, (१२) चामर–व्यजनादि द्वारा सेवा करना, (१३) नायकका स्थलविशेषमें तिरस्कार, (१४) स्थलविशेषमें नायिकाका तिरस्कार, (१५) संवाद लाना और देना, (१६) नायिकाकी प्राणरक्षा एवं सभी विषयोंमें प्रयत्न करना।

जो सभी सखियाँ राधा एवं कृष्णमें समान परिमाणमें प्रेम रखकर भी अपने–आपको राधिकाकी निजजन कहकर अभिमान करती हैं, वे सखियाँ सर्वश्रेष्ठा हैं। उन्हें प्रियसखी एवं परमप्रेष्ठसखी कहा जा सकता है। स्वपक्ष, सुहृत्पक्ष, तटस्थ एवं विपक्ष भेदसे सखियाँ चार प्रकारकी होती हैं। रसपुष्टि करना ही इस प्रकारके भेदका तात्पर्य है। प्रतिपक्ष कार्यमें जो दर्प, मद एवं ईर्ष्या आदि भाव हैं, वे केवल रसके पोषक भावमात्र हैं। वास्तवमें यह सब कुछ अखण्ड प्रेम है। इन विषयोंका जो विस्तारसे वर्णन है, उसे श्रीउज्ज्वलनीलमणि या श्रीजैवधर्ममें अधिकारी पाठक लोग देखकर हृदयङ्गम करेंगे। अनधिकारीके अमङ्गलके भयसे उन बातोंकी यहाँ आलोचना नहीं करेंगे।

मधुररसमें कृष्ण एवं कृष्णवल्लभाओंके नाम, गुण, चरित, मण्डन, सम्बन्धित एवं तटस्थ विषयसमूह—ये सभी उद्दीपन हैं। गुणका तात्पर्य मानस, वाचिक एवं कायिक गुणोंसे है।

इस रसमें अलङ्कार, उद्भास्वर और वाचिक भेदसे अनुभाव तीन प्रकारके हैं। भाव, हाव आदिके भेदसे अलङ्कार बीस प्रकारके हैं। हृदयके भाव शरीरमें उद्भासित होनेपर उसे ही उद्भास्वर कहते हैं। आलाप, विलाप आदिके भेदसे वाचिक अनुभाव बारह प्रकारके हैं।

स्तम्भ–स्वेदादि आठ सात्त्विकभाव इस रसमें सात्त्विक हैं। उग्रता एवं आलस्यको छोड़कर सभी सञ्चारीभाव इस रसके व्यभिचारीभाव हैं।

स्वभाव

मधुररति ही इस रसका स्थायीभाव है। अभियोग, विषय–सम्बन्ध, अभिमान, तदीय–विशेष, उपमा एवं स्वभावसे रतिका उदय होता है। स्वभावसे जिस रतिका उदय होता है, वही सबसे श्रेष्ठ है। जो धर्म

अन्य किसी भी हेतुकी अपेक्षा न कर प्रकाशित होता है, वही स्वभाव है।

निसर्ग

निसर्ग एवं स्वरूप भेदसे स्वभाव भी दो प्रकारका होता है। सुदृढ़ अभ्यास द्वारा उत्पन्न संस्कारको निसर्ग कहा जा सकता है। गुण–रूप श्रवणादि उसको जगानेके लिए सामान्य कारणमात्र हैं। जीवके अनेक जन्म–सिद्ध सुदृढ़ रत्याभाससे जो संस्कार होता है, वही निसर्ग है। अजन्य (जन्मरहित नित्य–वर्त्तमान), अनादि एवं स्वतःसिद्ध भावको स्वरूप कहा जा सकता है। वह कृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ एवं उभयनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारका होता है। गोकुलललनाओंकी कृष्णरति स्वभावज अर्थात् स्वरूपसिद्ध है। साधन सिद्धाओंकी रति निसर्गसिद्ध है। साधकोंकी रति अभियोगादि द्वारा जागृत होती है। साधनसिद्ध होनेपर ललनानिष्ठ स्वरूपकी स्फूर्त्ति प्राप्त होती है।

तीन प्रकारकी रति

साधारणी, समञ्जसा और समर्था भेदसे रति तीन प्रकारकी है। गोकुलदेवियोंकी रति **समर्था** है। द्वारकाकी महिषियोंकी रति **समञ्जसा** और कुब्जाकी रति **साधारणी** है। गोपियोंकी रति लोक–लज्जा, धर्म, भय आदि सबका अतिक्रम करनेमें समर्थ रहनेके कारण वह समर्था कहलाती है। यह गाढ़ सर्व–विस्मरण–कारिणी शक्तिविशिष्टा है। विरुद्ध भाव द्वारा अभेद्य रूपसे दृढ़ होनेपर प्रेम नाम धारण करती है। प्रेम क्रमशः अपना माधुर्य प्रकाशकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव रूप धारण करता है। जिस प्रकार इक्षुदण्ड (गन्ना) बीज, इक्षुरस, गुड़, खण्ड, शर्करा, सिता (मिश्री) और क्रमशः सितोत्पलका रूप धारण करता है, उसी प्रकार रति भी क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं भावका रूप धारण करती है। प्रेमसे लेकर भाव तक सभी एक ही वस्तुकी क्रमोन्नति है। 'भाव' शब्दका तात्पर्य महाभावसे है। भक्तका प्रेम जिस जातिका होता है,

कृष्णका भी उसके प्रति उसी जातीय प्रेमोदय होता है। मधुर–रसमें युवक–युवतीके बीच ध्वंसका कारण उदित होनेपर भी जो ध्वंसरहित भावबन्धन होता है, वही प्रेम है। प्रेम प्रौढ़ मध्य एवं मन्द भेदसे तीन प्रकारका है।

स्नेह

पराकाष्ठा प्राप्त होकर जो प्रेम चिद्दीप–दीपन लक्षण प्राप्त हो एवं हृदयको द्रवित कर दे, तब वह प्रेम स्नेह कहलाता है। घृतस्नेह एवं मधुस्नेहके भेदसे स्नेह दो प्रकारका होता है। अत्यन्त आदरमय स्नेह ही घृतस्नेह है। अत्यन्त मदीयत्व भावयुक्त स्नेह ही मधुस्नेह है। रतिके दो रूप हैं अर्थात् (१) मैं उनकी हूँ, ऐसी भावनामयी रति और (२) वे मेरे हैं, ऐसी भावनामयी रति। घृतस्नेह चन्द्रावलीमें है। श्रीराधाजीमें मधुस्नेह है।

मान

उत्कृष्ट स्नेह अदाक्षिण्य (वाम्य) एवं कौटिल्य (कुटिलता) से युक्त होनेपर मान होता है। उदात्त एवं ललित भेदसे मान दो प्रकारका है। अभेद मननरूप विश्रम्भयुक्त मान ही प्रणय है। किसी स्थानपर स्नेहसे प्रणय उत्पन्न होकर मान धर्म प्राप्त होता है और किसी स्थानपर स्नेहसे मान होकर प्रणयत्व प्राप्त होता है।

प्रणय, राग

प्रणयके उत्कर्षमें अत्यन्त दुःख एवं अत्यन्त सुख रूपसे जो प्रतीत होता है, वही राग है। नीलिमा एवं रक्तिमा भेदसे राग दो प्रकारका होता है। स्थायी मधुरभाव, तैतीस व्यभिचारीभाव और हास्यादि सात रस एक साथ मिलकर इकतालीस भावान्तर हैं।

अनुराग

जो राग स्वयं नव–नव भावसे सदा अनुभूत प्रियको नित्य नवीन अनुभूत कराता है, वही अनुराग है। इसमें वशीभाव, प्रेमवैचित्र्य एवं

अप्राणी गुल्म, लता, पत्थर आदिमें जन्म-लालसायुक्त होकर अनुराग असीम उन्नत अवस्था तक पहुँच जाता है एवं विप्रलम्भमें कृष्णकी स्फूर्त्ति कराता है।

विप्रलम्भ और महाभाव

विप्रलम्भ ही प्रेमवैचित्र्य है। यावदाश्रय (आश्रयकी शेष सीमा) वृत्तिरूपमें अनुराग स्वयं वेद्य दशाको प्राप्त होकर प्रकाशित होनेपर वही भाव या महाभाव होता है। महाभावरुपिणी श्रीराधिकामें अनुरागके आश्रयतत्त्वकी चरम सीमा है। श्रीकृष्ण मूर्त्तिमान शृङ्गार रूपसे विषय तत्त्वकी चरमसीमा हैं। यही अनुरागरूप स्थायीभावकी इयत्ता या चरम सीमामें यावदाश्रय, वृत्ति है। वेद्यदशा अर्थात् तत्प्रेयसी-जनविशेषकी संवेद्यदशा प्राप्त होकर उपयुक्त समयमें सुद्दीप्तादि सात्त्विकभावोंके द्वारा प्रकाशमान होता है तथा आश्रय एवं विषयको अभिन्न रूपसे संयोजितकर महासात्त्विक विकार द्वारा आद्रीभूत करता है।

महाभाव

कृष्णके प्रति स्वकीयरसमें महाभाव दुर्लभ है। एकमात्र व्रजदेवियोंके लिए ही यह संवेद्य है। रूढ़ एवं अधिरूढ़ भेदसे महाभाव दो प्रकारका होता है। निमेषमात्रके वियोगमें भी असहिष्णुता, उपस्थित व्यक्तियोंके हृदयको मथ देना, कल्प-क्षणत्व, श्रीकृष्णमिलनके सुखमें भी आर्त्ति और वियोगकी आशंकासे खिन्नता, मोहादिके अभावमें भी आत्मादि सर्व-विस्मरण और क्षण-कल्पत्व—ये सभी अनुभाव सम्भोग एवं विप्रलम्भमें यथार्थ रूपसे अनुभूत होते हैं। अधिरूढ़में मोदन एवं मादन—ये दो प्रकारके भेद हैं। मोदन या मोहनसे दिव्योन्माद होता है; उसीमें उद्घूर्णा एवं चित्रजल्पादि होते हैं। विप्रलम्भमें इन दोनों भावोंका उदय होता है। प्रजल्प, परिजल्पित, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प एवं सुजल्पके भेदसे चित्रजल्पके दस अङ्ग हैं। (भ्रमरगीत)

जब ह्लादिनीसार प्रेम सर्वभावोद्‌गम द्वारा उल्लासयुक्त होते हैं, तभी वे परात्पर भावरूप मादन नामसे श्रीमती राधिकाजीमें नित्य विराजमान रहते हैं।

कृष्ण ही रस हैं। वे अनन्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हैं। उनके लिए कोई भी वस्तु या कार्य अगोचर, अप्राप्य या अघटनीय नहीं है। वे अचिन्त्यभेदाभेद धर्मके कारण नित्य ही एकरस एवं अनेक रसयुक्त हैं। एक रसमें वे सब कुछ आत्मसात्‌कर आत्माराम हैं। उस समय उनसे पृथक्‌ रस रूपसे कुछ भी नहीं रहता। पुनः वे युगपत्‌ अनेकरस हैं। इसलिए आत्मगत रसको छोड़कर उस अवस्थामें परगतरस एवं आत्मपरयोगगत विचित्र रस होता है। अन्तिम दो रसोंकी अनुभूतिसे ही उन्हें लीलासुख प्राप्त होता है। परगतरस ही चरमसीमाको प्राप्तकर परकीयरस कहलाता है। वृन्दावनमें यह चरम विस्तृति (परकीयभाव) अत्यन्त प्रस्फुटित है। अतएव आत्मगत रसके परिज्ञात परम सुखविशिष्ट परकीयरस ही मादनकी शेष सीमा है। अप्रकटलीला (गोलोक) में यह परकीयभाव विशुद्ध रूपमें नित्य वर्त्तमान है एवं किञ्चित्‌ मायिक प्रतीतियुक्त होकर भौमव्रजमें अवतीर्ण है।

हे प्रेमारुरुक्षु साधक भक्तजन! आप लोगोंने वैधीभक्ति द्वारा प्राप्त भावमार्गसे इस जगतके स्थूल चौदह स्तरोंका अतिक्रमण किया है। इन चौदह स्तरोंके ऊपरी भागमें लिङ्गजगतके हरधाम (शिवलोक) रूप चार स्तरोंको पारकर ऊपर उठते हुए पुनः विरजारूप विशुद्ध सत्त्वमय दो स्तरोंको भेद करें। तब गोलोक वृन्दावनकी सीमा प्राप्त कर सकेंगे। ये दोनों स्तर ब्रह्मधाम एवं वैकुण्ठ हैं। गोलोकमें आत्मभावमय पाँच स्तर देदीप्यमान हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। मधुर स्तरमें पहुँचकर श्रीगोपीदेहरूप अपने नित्यसिद्ध चिन्मय देहका अवलम्बनकर श्रीमती राधिकाके यूथमें श्रीमती ललिताके गणोंमें प्रवेशपूर्वक श्रीरूप–मञ्जरीकी कृपासे अपने हृदयमें शुद्ध चिन्मय विभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावोंके द्वारा अपने स्थायीभावको रसावस्थामें उन्नत करें। नामाकृष्ट रसज्ञ होकर अनायास ही महाभाव तक प्रेमधन अर्जन करें एवं कृतकृतार्थ होवें। अपना वर्त्तमान

अधिकारविचार एवं जड़देहमें युक्त वैराग्य अवलम्बन करते हुए निरन्तर नामरस पानकर सर्वोत्तम अधिकार प्राप्त करें। इस मधुररसके विचारमें मैंने अधिक प्रमाण संग्रह नहीं किया है। क्योंकि जो श्रद्धालु साधक इसमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त करना चाहते हों, वे लोग इस रससम्बन्धी सभी विषयोंको श्रीउज्ज्वलनीलमणि एवं जैवधर्म ग्रन्थोंमें देखें।

प्रवेश-सोपान

रसके सभी विचारोंको जानकर अष्टकालीय नित्य कृष्णलीलामें प्रवेशकर अपने अधिकारोचित क्रिया, सेवा तथा भावका अवलम्बन करनेपर अनायास ही वस्तुसिद्धि होगी। युक्तवैराग्यमें स्थित होनेपर सहज ही परमहंस धर्म अपने-आप जीवनशेष तक उदित होगा।

जो लोग स्थूलदेहके सुखोंका बहुत आदर करते हैं तथा चिन्मयदेहके इन आनन्दवैचित्र्योंसे परिचित नहीं हैं, वे इन बातोंपर दृष्टिपात, मनन और आलोचना न करें। क्योंकि ऐसा करनेपर वे इन वर्णनोंको माँस-चर्मगत कार्य समझकर या तो अश्लील मानते हुए निन्दा करेंगे अथवा आदरकर प्राकृत भावमें निमज्जित होकर अधःपतित होंगे। श्रीजयदेवजीने लिखा है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनः यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥
(श्रीगीतगोविन्द)

अर्थात् यदि हरिस्मरणमें मनको सरस करना है और यदि श्रीराधाकृष्ण-युगलकी चिद्-विलासरूप केलिकलाओंके रसास्वादनका कौतूहल है, तो श्रीजयदेव सरस्वती द्वारा रचित मधुर कोमलकान्त-पदावलियोंका निरन्तर श्रवण करो।

रासपंचाध्यायीमें यह बात कही गई है—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्यद् यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/३०)

अर्थात् सामर्थ्यहीन अनधिकारी व्यक्ति मनके द्वारा भी कदापि ऐसा आचरण नहीं करें। श्रीरुद्रने समुद्रसे उत्पन्न विष पान किया था; मूढ़ताके कारण यदि कोई उस प्रकारका आचरण करें, तो वह निश्चय ही विनाशको प्राप्त होगा।

श्रीमन्महाप्रभुजीका यह उपदेश है कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णचरित्रका अनुशीलन करो, तभी परम रसको प्राप्त कर सकोगे। श्रीमद्भागवतके चतुःश्लोकीके चरम श्लोकमें यही बात कही गई है—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥
(श्रीमद्भा. २/९/३५)

अर्थात् जो व्यक्ति आत्मतत्त्व जिज्ञासु हैं, वे दैनन्दिन श्रीकृष्ण–लीलाओंका अन्वय (प्रत्यक्ष) रूपसे एवं असुर–मारण आदि लीलाओंका व्यतिरेक (अप्रत्यक्ष) रूपसे विचारकर, जो वस्तु सर्वत्र और सर्वदा नित्य वर्त्तमान है, उसीका अनुसन्धान करें।

परमात्म–तत्त्वज्ञान ही प्रेमरूप प्रयोजन है। वह कृष्णचरित्रमें दो प्रकारसे प्रकाशित हुआ है। साक्षात् रसास्वादन अन्वय रूपसे दैनंदिन नित्यलीलामें प्राप्त होगा। वही अष्टकालीयलीला है। असुर–मारण आदि लीलामें व्यतिरेक रूपसे कृष्णतत्त्व जाना जाता है। पूतना–वधसे प्रारम्भ करके कंस–वध तक असुर–वध लीला है। ये लीलाएँ व्यतिरेक रूपसे (स्थूल रूपमें) भौमव्रजमें और केवल अभिमानके रूपसे निर्गुण गोलोकमें वर्त्तमान हैं। वस्तुतः ये लीलाएँ गोलोकमें नहीं हैं एवं हो भी नहीं सकतीं। व्यतिरेक लीलाओंके पठन द्वारा रसिक भक्त शुद्धभाव प्राप्तकर अन्वयलीलाका रस आस्वादन करते–करते गोलोकका दर्शन करेंगे। यहाँ संक्षेपमें यहीं तक कहा गया। विशेष यत्नके साथ साधक और प्रेमारुरुक्षु पुरुष इसका अनुशीलनकर समझ लेंगे।

श्रीमद्भागवतका तीसरा श्लोक यह है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥
(श्रीमद्भा. १/१/३)

अर्थात् हे भगवत्प्रीतिके रसिक अप्राकृत रस-विशेषकी भावनामें कुशल भक्तगण! श्रीशुकदेवजीके मुखसे प्रवाहित होकर शिष्य-प्रशिष्य आदि परम्परा द्वारा स्वेच्छासे पृथ्वीमें अखण्डरूपसे अवतीर्ण, परमानन्द रसमय, छिल्का और गुठली आदि कठिन हेयांशसे रहित, तरल पान करने योग्य श्रीमद्भागवत नामक वेद-कल्पतरुका प्रपक्व फल आप लोग मुक्त अवस्थामें भी पुनः-पुनः पान करते रहें।

जब तक व्यतिरेक अनुशीलनकी आवश्यकता रहती है, तब तक महारसमें निमग्न नहीं हो सकते। व्यतिरेक अनुशीलनका यथार्थ फल उदय होनेपर ही गोलोकका निर्गुण रस उदित होगा। उस समय तक भागवतका रस लेते हुए अन्वय और व्यतिरेक रूपसे अनुशीलन करनेकी आवश्यकता है। अष्टयामकी लीलाओंमें प्रवेश करते हुए रसास्वादन करें एवं व्रजकी अन्यान्य लीलाओंका आस्वादनकर इस साक्षात् रसास्वादनके प्रतिकूल विषयोंको दूर करें। तभी सिद्धि-कालमें त्रिगुणोंका नाश होनेपर अनायास ही गोलोक दर्शन और उसकी प्राप्ति हो सकेगी।

अष्टम वृष्टि

अष्टम वृष्टि
उपसंहार

ग्रन्थकारका निवेदन

हमारे इस क्षुद्र ग्रन्थको आस्वादन-ग्रन्थ न समझकर विचार-ग्रन्थके रूपमें ग्रहण करेंगे। आस्वादन-ग्रन्थ होनेसे इसमें सर्वरसोत्कृष्ट मधुररसके श्रीराधाकृष्णकी लीलाओंका वर्णन किया गया होता। लीलारसोंसे परिपूर्ण अनेकों ग्रन्थोंसे[१] लीलारसका आस्वादन किया जा सकता है। अतः यह ग्रन्थ केवल विशुद्ध विचारपरायण है,[२] जिसके पठन-पाठनसे पाठक विशुद्ध सिद्धान्तोंसे अवगत होकर दृढ़तापूर्वक कृष्ण-भक्तिमें लग सकेंगे।

विचारके पाँच अङ्ग

पण्डितोंके मतानुसार विचारके पाँच अङ्ग हैं[३]—(१) विषय, (२) संशय, (३) संगति, (४) पूर्वपक्ष और (५) सिद्धान्त। हमारे विचारका

---

[१] श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध; श्रीजयदेवकृत श्रीगीतगोविन्द; श्रीबिल्वमङ्गलकृत श्रीकृष्ण-कर्णामृत; श्रीरूप गोस्वामीकृत श्रीललितमाधव एवं श्रीविदग्धमाधव।

[२] विचारग्रन्थ आलोचनाका आश्चर्यजनक फल श्रीचैतन्यचरितामृतमें वर्णित हुआ है; यथा;—

सब श्रोतागणेर करि चरण वन्दन।
ए एब सिद्धान्त शुन, करि' एकमन॥
सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस।
इहा हइते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस॥ (चै. च. आ. २/११६-११७)
अतएव भागवत करह विचार।
इहा हइते पावे सूत्र-श्रुतिर अर्थ-सार॥ (चै. च. म. २५/१४६)

[४] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

विषय क्या है—यह जिज्ञासा हो सकती है। इसके उत्तरमें हमारा यह कथन है कि जीवका जीवन ही इस विचारका विषय है। संशय क्या है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यह जीवन क्या है और इसका उद्देश्य क्या है? इमारी सङ्गति यह है कि जीवका जीवन दो प्रकारका होता है—(१) शुद्ध–जीवन और (२) बद्ध–जीवन। शुद्ध–जीवन शुद्ध चिद्धाममें है, जो नित्य, पवित्र और आनन्दमय है। उसमें अभाव, शोक, भय और मृत्यु नहीं है। बद्ध–जीवन इस जड़जगतमें वर्त्तमान है। यह भी दो प्रकारका है—(१) बहिर्मुख और (२) अन्तर्मुख। बहिर्मुख जीवन चिद्धामकी ओर लक्ष्य नहीं करता, उसमें भगवान्‌के प्रति उन्मुखता नहीं होती। अन्तर्मुख–जीवन बहिर्मुख–जीवन जैसा दीखनेपर भी वह चिद्धामके प्रति उन्मुख होता है और उसीका मुख्य रूपसे अनुसन्धान करता है। बहिर्मुख बद्ध–जीवन चार प्रकारके होते हैं—

(१) नीतिशून्य निरीश्वर बद्ध–जीवन।
(२) नैतिक निरीश्वर बद्ध–जीवन।
(३) नैतिक सेश्वर बद्ध–जीवन।
(४) निर्विशेष चिन्ता द्वारा विकृत जीवन।

(१) नीतिशून्य निरीश्वर बद्ध–जीवन

नीतिशून्य निरीश्वर बद्ध–जीवन दो प्रकारका है—(१) नरेतर–जीवन और (२) नर–जीवन। पशु–पक्षी इत्यादिका जीवन नरेतर–जीवन है। उस जीवनमें बुद्धि वृत्ति लुप्तप्रायः रहती है। नीति और बुद्धिरहित नर–जीवन पुनः दो भागोंमें विभक्त है। सर्वप्रथम अत्यन्त असभ्य अवस्थामें मानवका आदिम जंगली जीवन है। जंगली जीवनमें पशुओंकी तरह मनुष्योंकी यथेच्छाचारपूर्ण क्रियाएँ होती हैं। ऐसे लोग भय और आशा द्वारा प्रेरित होकर चन्द्र–सूर्य आदि चमकीली जड़–वस्तुओंको भिन्न–भिन्न ईश्वर समझते हैं। इस अवस्थामें नीति नहीं होती और वास्तव ईश्वर भी नहीं है। जीवकी सिद्ध–सत्तागत

---

[३] खलु विषय–संशय–पूर्वपक्ष–सिद्धान्त–सङ्गति भेदात् पञ्च न्यायाङ्गानि।
(वेदान्त–भाष्यकार)

भक्तिवृत्ति अत्यन्त लुप्तप्रायः होकर केवल उसके अस्तित्वका परिचयमात्र देती है। जो लोग द्रव्य और द्रव्यशक्तिका ज्ञान प्राप्तकर युक्तिके बलपर पदार्थविज्ञान और शिल्पकी प्रचुर उन्नतिकर इन्द्रिय-सुखोंकी परिचर्या करते हैं, तथापि नीति और ईश्वरको नहीं मानते, वे नीति और बुद्धिरहित नर-जीवनके द्वितीय भागमें अवस्थित हैं। ईश्वर और नीतिके प्रति उनका लक्ष्य नहीं रहता।

(२) नैतिक निरीश्वर बद्ध-जीवन, तथा
(३) नैतिक सेश्वर बद्ध-जीवन

शेषोक्त जीवन नीतिके प्रति आदरयुक्त होनेपर नैतिक निरीश्वर बद्ध-जीवन हो जाता है। वही दूसरे प्रकारका बद्ध-जीवन है। पुनः शेषोक्त जीवन ईश्वर-विश्वासयुक्त होनेपर नैतिक सेश्वर बद्ध-जीवन होता है। इस जीवनमें ईश्वरके प्रति कर्त्तव्य-कर्म नीतिके अधीन होनेके कारण बहिर्मुखता दूर नहीं होती। वही तीसरे प्रकारका बद्ध-जीवन है।

(४) निर्विशेष चिन्ता द्वारा विकृत जीवन

जहाँ उक्त जीवनमें अत्यधिक निर्विशेष चिन्ता प्रविष्ट हो जाती है, वहाँ वह नीतिके हाथसे जीवनको छीनकर उसे अपने अधीन कर लेती है और क्रमशः उसके ईश्वर-विश्वासको केवलाद्वैत-विश्वासके रूपमें बदल देती है। यहींपर निर्विशेष चिन्ता द्वारा विकृत बहिर्मुख जीवन देखा जाता है। यही चौथे प्रकारका बहिर्मुख बद्ध-जीवन है।

साधनभक्त-जीवन

जो लोग परमेश्वरको जीवन-सर्वस्व जानकर समस्त विज्ञान, शिल्प, नीति, ईश्वरवाद और चिन्ताको ईशभक्तिके अधीनकर जीवन-यात्राका निर्वाह करते हैं, उनका जीवन बद्ध होनेपर भी अन्तर्मुख है। अन्तर्मुख जीवनको साधनभक्त-जीवन भी कहते हैं।

जड़सम्बन्धका सम्पूर्ण रूपसे विनाशकर उद्दीपित निर्मल स्वधर्मके साथ जीवकी चिद्-रसमें अवस्थिति ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है। वही अन्तर्मुख जीवनका फल है।

हमारी इस संगतिको श्रवणकर पूर्वोक्त चार प्रकारके बहिर्मुख बद्ध–जीवनस्थित कुसंस्कारसम्पन्न जीव अपनी–अपनी निष्ठारूप चारदीवारीके भीतर रहकर एक–एक पूर्वपक्ष किया करते हैं। अपने–अपने कोष्ठमें बैठकर उस–उस अवस्थाके जीवोंने युक्तिकी सहायतासे विषय, संशय, सङ्गति और पूर्वपक्षका विचारकर एक–एक सिद्धान्त कर लिया है। ये सिद्धान्त ही हमारे निकट पूर्वपक्षके रूपसे प्रसारित होते हैं। इसमें विशेष बात यह है कि जिस जीवनमें स्थित होकर जीव पूर्वपक्ष करते हैं, उस जीवनसे बिलकुल सटे हुए उच्च–जीवनमें स्थित जीवोंने उस पूर्वपक्षका निरासकर अपना एक सिद्धान्त बना रखा है। उन सिद्धान्तोंका उल्लेख करनेसे निम्न स्थित जीवनके सिद्धान्तका अपने–आप खण्डन हो जाता है। हमसे सटा हुआ नीचे जो जीवन देखा जाता है, उस जीवनके सिद्धान्तका निरसन करना ही हमारा अपना कार्य है। हम उसी प्रकारके कार्य करेंगे। हमारे ग्रन्थमें स्थान–स्थानपर ये सभी सिद्धान्त दिखलाए गए हैं। सरल–सहज रूपसे समझनेके लिए पुनः संक्षेपमें उनकी आलोचना कर रहे हैं।

नीतिशून्य व्यक्तियोंकी बहिर्मुख युक्ति

नीतिशून्य बहिर्मुख जीव इस प्रकार युक्ति किया करते हैं— "परमाणुओंके संयोग–वियोग द्वारा यह विचित्र जगत प्रकृतिकी अनादि विधिके अनुसार उत्पन्न हुआ है। इस जगतका कोई सृष्टिकर्त्ता नहीं है। हम परमेश्वरके सम्बन्धमें जो विश्वास करते हैं, वह विश्वास कुसंस्कारसे ही उत्पन्न है। यदि परमेश्वर नामक किसी प्रकाण्ड चैतन्यको स्वीकार करते हैं, तो उस चैतन्यकी सृष्टि करनेवाले और एक कर्त्ताकी आवश्यकता हो जाती है। उससे परमेश्वरमें विश्वास स्थिर नहीं रहता। जड़शरीरमें जो जड़मय मस्तिष्क है, उसीकी गठन–प्रणालीसे बुद्धिका उदय होता है। उस गठनके भङ्ग होनेपर बुद्धिका भी अस्तित्व नहीं रहता। जिसे हम आत्मा समझते हैं, वह अन्ध–विश्वासमात्र है। शरीरके पतन होनेपर अस्तित्वका अभाव हो जाएगा, अथवा वह मूलतत्त्वमें मिल जाएगा। इस जीवनमें अवस्थित रहकर मरणतक जितना सुख–भोग कर सकते हो, उतना करो।

केवल इसी बातका ध्यान रखना होगा कि सुख-भोग कार्यमें कोई भी ऐहिक असुख, रोग, दुःख या असुविधाका उदय न हो। राजदण्ड, प्राणदण्ड, प्राणवध, दूसरेके साथ शत्रुता, पीड़ा, अयश—ये सभी ऐहिक असुख हैं। देहका सुख ही प्रयोजन है, क्योंकि उसको छोड़कर दूसरा कोई सुख नहीं है। जीवनके सुखोंकी वृद्धि करनेके लिए विज्ञान, शिल्प, चित्रकारिता, कला आदिकी जितनी उन्नति कर सकते हो, युक्ति और परिश्रम द्वारा ऐसा करो। जीवनकी वन्य-अवस्थाको दूरकर वेश-भूषा, गृहस्थ-जीवनके द्रव्यसमूह, शरीरके स्वास्थ्य-सौन्दर्य एवं बाहरी सभ्यता इन सबकी वृद्धि करो। सुखाद्य, सुगन्ध द्रव्य, सुनने योग्य इन्द्रिय-सुखकारी वाद्ययन्त्र, देखने योग्य प्रतिकृति एवं सुन्दर सुख-भोगके लिए विविध उपकरणोंका संग्रहकर सुख-भोग करो। उत्तम अट्टालिका, नाना प्रकारके यानादि निर्माणकर सौन्दर्यकी वृद्धिकर उनका व्यवहार करते रहो। सभ्यता ही नर-जीवनकी परिपाटी है। जीवनके उपकारके लिए इतिहासका संग्रह करो। अनुसन्धान द्वारा जिन तत्त्वोंका आविष्कार करते हो, उनका सटीक रूपसे संरक्षण करो। अलौकिक एवं युक्तिविरुद्ध—कुछ भी स्वीकार मत करो। जहाँ साधारण सुख एवं अपने सुखमें विरोध उपस्थित हो, वहाँ साधारण सुखका परित्याग करके भी अपने सुखकी उन्नति करो।" इस प्रकारके प्रबल युक्तियुक्त सभी वाक्योंको सुनकर असभ्य एवं अप्राप्तज्ञान वन्यजातिके मनुष्य अपने पूर्वकार्योंका परित्यागकर जीवनकी उन्नतिके लिए प्रयास करते हैं। उनके लिए सूर्यचन्द्र-विश्वास, पशु-वध द्वारा जीवन-निर्वाह एवं वनमें पशुओंकी तरह काल-यापन आदि कार्य दूर हो जाते हैं। ऐसा देखकर बहिर्मुख नीतिशून्य युक्तिवादी मनुष्य अपने कृतकार्यके लिए गर्व बोध करते हैं। चार्वाक, सरडेनाप्लास आदि इन्द्रियसुखवादी लोगोंका जीवन ही इस जीवनका उदाहरण है।

नैतिक बहिर्मुखकी युक्ति

नैतिक बहिर्मुख जीव और भी अधिक बुद्धिमत्ता प्रकाशकर नीतिशून्य बहिर्मुख जीवनको शीघ्र ही पराजित करते हैं। वे कहते

हैं—भाई! तुम्हारी सभी बातोंको मानता हूँ, केवल तुम्हारे स्वेच्छाचारको ठीक नहीं समझता। तुम जीवनका सुख ढूँढ़ तो रहे हो, किन्तु नीतिके बिना जीवनमें सुख कैसे मिलेगा? अपने जीवनको ही केवल जीवन मत समझो। सामाजिक–जीवनको ही जीवन कहो। जो विधि सामाजिक–जीवनकी सुखसमृद्धि करनेमें समर्थ है, वही श्रेष्ठ है एवं वही नीति है। उस नीति द्वारा सुखभोग करनेमें ही मानवकी पशुओंसे श्रेष्ठता है। यदि स्वयंके दुःखभोगसे समाजका सुख हो, तो स्वयं दुःख स्वीकार करना ही युक्तिसम्पन्न पुरुषका कर्त्तव्य है। यही निष्काम नीति है, यही एकमात्र मानव–धर्म है। सामाजिक सुखसमृद्धि करनेके लिए प्रेम, मैत्री, कृपा आदि प्रधान सभी भावोंका अनुशीलन करो। ऐसा होनेपर हिंसा–द्वेषादि दुष्टभाव मानवचित्तको दूषित नहीं कर सकते। विश्वप्रेम ही विश्वसुख है। उसकी वृद्धिके लिए कोई उपाय अवलम्बन करो। यह positivist अर्थात् निश्चयवादी कमटी (Comte) और मिल (Mill) एवं socialist अर्थात् समाजवादी हारबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) आदि एवं बौद्ध तथा नास्तिक व्यक्तियोंका निगूढ़ मत है।

कल्पित-सेश्वर-नैतिक व्यक्तिोंकी युक्ति

कल्पित–सेश्वर–नैतिक व्यक्ति उक्त मतकी सभी बातें स्वीकार करते हैं; अधिकन्तु यह भी कहते हैं कि ईश्वर–विश्वास भी एक प्रधान नीति है। जब तक ईश्वरपर विश्वास नहीं हो, तब तक नीति अपूर्ण रहती है। इसके अतिरिक्त ईश्वर विश्वाससे कुछ नैतिक उपकार भी हैं—

(१) पक्का नैतिक होनेपर भी समय–समयपर विषयोंके प्रति इतना प्रबल आकर्षण होता है कि बड़े–से–बड़े नैतिक व्यक्तियोंके लिए भी उससे बच पाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। यदि कोई देखनेवाला नहीं हो, तो वे लोग बलात् कुकर्ममें प्रवृत्त हो जाते हैं। उस समय केवल ईश्वर विश्वास ही उनका उपयुक्त रक्षक हो सकता है; क्योंकि कोई भी प्राणी जिस बातको देखनेमें समर्थ नहीं है, ईश्वर

उसे अवश्य देखते हैं—ऐसा जिनका विश्वास है, वे अत्यन्त गोपनीय स्थानमें भी नीतिविरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते।

(२) मृत्युके समय असहनीय कष्ट होता है, किन्तु ईश्वर-विश्वास रहनेपर मृत्युके समय उसे कष्ट नहीं होता और वह सुख-शान्तिसे शरीर त्याग देता है।

(३) साधारणतः नैतिकताकी अपेक्षा ईश्वर-विश्वास अधिकतर ऐहिक पुण्यप्रवृत्तिजनक है—यह बात सभी स्वीकार करते हैं।

(४) ईश्वर-विश्वासपूर्ण जीवनमें केवल-नैतिक-जीवनकी अपेक्षा अधिक शान्ति होती है।

(५) यदि वस्तुतः ईश्वर हैं; तो उनके प्रति विश्वास रखनेसे एवं प्रार्थना आदि करनेसे प्रचुर लाभ होगा। यदि ईश्वर न भी हो, तो भी उक्त विश्वाससे कोई हानि नहीं होगी। पक्षान्तरमें यदि ईश्वर हैं, तो ईश्वरके प्रति अविश्वास करनेवाले व्यक्तियोंके लिए प्रचुर हानि है। अतएव परम नैतिक व्यक्तियोंके लिए ईश्वर-विश्वास परमावश्यक एवं लाभदायक है।

(६) ईश्वर-विश्वासमें भी सुख है, किन्तु वह सुख दोषपूर्ण सुखकी अपेक्षा निर्मल होता है। ईश्वर-विश्वाससे प्राप्त सुखमें कोई उत्पात नहीं है। अन्य समस्त विषय सुखोंमें उत्पात अवश्यम्भावी रूपसे होते हैं।

(७) ईश्वर-विश्वास द्वारा चित्त-वृत्ति उदार होती है एवं सत्पथपर चलनेकी प्रवृत्ति पुष्ट होती है।

(८) ईश्वर-विश्वास रहनेपर अपने-आप दया, क्षमा, सहिष्णुता आदि गुणोंका विकास होता है।

(९) ईश्वर-विश्वास रहनेपर निष्काम कर्ममें अधिक उत्साह होता है।

(१०) ईश्वर-विश्वास रहनेपर परलोकबुद्धि उदित होती है। परलोकबुद्धि रहनेपर किसी भी स्थितिमें निराशा नहीं होती। यदि ईश्वर न भी हों, तथापि उपरोक्त कारणोंसे ईश्वर-विश्वास रखना सब प्रकारसे कल्याणजनक है। कल्पित सेश्वरवादियोंकी इन सुयुक्तियोंके सामने निरीश्वर व्यक्ति निरुत्तर हो जाते हैं। अन्तमें वे कमटी

(Comte) की तरह एक कल्पित उपासनातत्त्व स्वीकार कर लेते हैं। जैमिनीका कर्मकाण्ड, पातञ्जलका ईश्वर–प्रणिधान और कमटीकी कल्पित उपासना आदिमें कुछ–कुछ भेद रहनेपर भी फलकी दृष्टिसे ये तीनों एक ही समान हैं। कमटीने अपने अन्तर्निहित भावोंको छिपाया नहीं, अपितु स्पष्ट रूपसे प्रकट किया है; किन्तु जैमिनी आदि कर्मवादी उनकी अपेक्षा अधिक सतर्क रहनेके कारण उन्होंने अपने अन्तरकी भावनाओंको प्रकाशित नहीं किया।

वास्तव-सेश्वरनैतिक व्यक्तियोंकी युक्ति

कल्पित–सेश्वरवाद प्रबल होनेपर वास्तव–सेश्वरवाद तर्क–युद्धमें अग्रसर होता है। वास्तव–सेश्वरवादियोंका कथन है—बन्धुओ! ईश्वरको कल्पिततत्त्व मत समझो। वे वस्तुतः नित्य विद्यमान हैं। निम्नलिखित कुछ निगूढ़ युक्तियोंको अच्छी तरह विचारकर देखो।

(१) जगतचक्र जिस प्रकार नियमित एवं व्यवस्थित रूपमें चल रहा है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह जगत किसी विभुचैतन्य द्वारा रचित एवं व्यवस्थापित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। मनुष्यकी युक्तिशक्ति सर्वाधिक श्रेष्ठवृत्ति है। उस वृत्तिका ठीक–ठीक सदुपयोग करनेसे अपने–आप यथार्थ सत्यका उद्घाटन होता है। किन्तु यदि बुद्धिवृत्तिका ठीक–ठीक उपयोग नहीं किया गया, तो भ्रम होना अवश्यंभावी है। युक्तिके कार्यमें व्याप्तिकी विशेष आवश्यकता है, अन्यथा युक्ति अधिक दूर तक अग्रसर होनेमें समर्थ नहीं होती। जिन दो पक्षोंको लेकर साध्य विषयका निर्णय किया जाए, उन दोनों पक्षोंका शुद्ध होना परम आवश्यक है। जैसे धुँआ देखकर पर्वतमें आग लगनेका अनुमान होता है। जहाँ धुँआ हो, वहाँ आग रहती है; यहाँपर यह पक्ष शुद्ध होना नितान्त आवश्यक है। दूसरा पक्ष यह है कि जो धुँआ देखा जा रहा है, वह यथार्थतः धुँआ ही होना चाहिए, कोहरा आदि नहीं। युक्तिके ये दोनों पक्ष शुद्ध होनेपर साध्य अवश्य ही सत्य होगा। युक्तिसङ्गत अनुमानकी यह प्रधान प्रक्रिया है। जगतके कार्योंमें जिस प्रकार सौन्दर्य और यथायोग्य सन्निवेश देखा जाता है, उसी प्रकार उसका एक अलौकिक

शक्तिसम्पन्न योग्य सृष्टा भी होना चाहिए, इसे प्रथम पक्ष समझा जाए। दूसरे पक्षको ऐसा समझा जाए कि अकस्मात् घटनाक्रमसे जो कुछ प्रकट होता है, उसमें उतनी सुष्ठुता नहीं होती। ऐसी सुष्ठुता तो केवल किसी अलौकिक विचारपूर्ण चैतन्य द्वारा ही सम्भव है। अब इन दोनों पक्षोंपर विचारकर यह निष्कर्ष निकाला जाए कि किसी अलौकिक शक्तिसम्पन्न बृहद्चैतन्य द्वारा ही इस विचित्र जगतकी रचना हुई है। यह बृहद्चैतन्य ही ईश्वर है।

(२) कर्त्ताके बिना कोई कर्म नहीं होता। यदि कोई कहे कि कर्त्ताका भी कोई कर्त्ता होना चाहिए, तो इस विषयकी सङ्गति इस प्रकारसे होगी कि जड़ीय कर्त्तामात्रके लिए ही कर्त्ताकी आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम बुद्धिवृत्ति द्वारा एक आकृति कल्पित होती है। पश्चात् उसी कल्पित आकृतिको कार्य रूपमें बदलनेसे एक जड़ीय स्थूल प्रक्रियाविशेष होती है। अतएव चैतन्यवस्तु ही जड़का आदि कर्त्ता है; किन्तु इस बुद्धिका कर्त्ता नहीं देखा जाता। इसलिए चैतन्यका कर्त्ता ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है। जड़ीय दृष्टिके सम्पर्कसे जो कुसंस्कार बना हुआ है, उस संस्कारसे अन्यायपूर्वक बुद्धिवृत्ति द्वारा यदि कोई चैतन्यका भी कर्त्ता ढूँढे, तो यह युक्तिविरुद्ध है। इसलिए ऐसे कुसंस्कारका त्यागकर विशुद्ध युक्ति द्वारा परमेश्वरपर विश्वास करना ही उचित है।

(३) यदि किसी विशेष प्रक्रिया द्वारा परमाणुओंके परस्पर संयोगसे चैतन्यकी उत्पत्ति हुई होती, तो वैसी उत्पत्तिका उदाहरण किसी-न-किसी देशके इतिहासमें अवश्य ही लिपिबद्ध हुआ होता। माताके गर्भसे मनुष्य पैदा होते हैं। अन्य किसी भी उपायसे उनकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। इस विषयमें विज्ञान अत्यन्त उन्नत होकर भी हजारों वर्षोंमें भी कुछ दिखा नहीं सका। यदि कहा जाए कि घटनाक्रमसे अकस्मात् मनुष्य पैदा हुआ और उसके पश्चात् माताके गर्भसे जन्म लेनेकी प्रथा आरम्भ हुई है, तो उसका उत्तर यह होगा कि ऐसा होनेपर पहली घटनाकी भाँति कभी-न-कभी दूसरी घटना भी अवश्य ही देखी जाती। किन्तु ऐसा कहीं नहीं देखा जाता। अतएव विभुचैतन्य ईश्वरसे ही प्रथम माता-पिताकी सृष्टि हुई। परमाणुओंके

मिलनसे ऐसा सम्भव नहीं है। अपितु वह परमाणु भी परमेश्वरके द्वारा सृजित है।

(४) जहाँ मानव है, वहीं ईश्वर–विश्वास भी है। ईश्वर–विश्वास मानव प्रकृतिका सत्तानिष्ठ–धर्म है। यदि कहा जाए कि अन्ध–विश्वास और मूर्खताके कारण प्रथम अवस्थामें ईश्वर–विश्वास रहता है, परन्तु युक्ति द्वारा वह क्रमशः दूर हो जाता है; तो उसका उत्तर यह होगा कि अन्ध विश्वास, भ्रम या मूर्खता सर्वत्र एक प्रकारकी नहीं होती। सत्य बात ही सर्वत्र एक होती है। जैसे दस और दसका योग बीस होता है, यह अटल सत्य है। यह सत्य सर्वत्र ही एक समान सत्य देखा जाता है, किन्तु दस और दसका योग करनेपर पच्चीस होगा, यह भ्रम सर्वत्र नहीं हो सकता। उसी प्रकार विश्व भरके सभी मनुष्योंमें किसी–न–किसी रूपमें ईश्वर–विश्वास अवश्य ही देखा जाता है। अतः कुसंस्कार या अन्ध विश्वास द्वारा मनुष्योंने ही ईश्वरकी कल्पना की है, यह बात सम्पूर्ण रूपसे मिथ्या है।

(५) यदि मानव जीवनको उच्च स्तरपर लानेकी अभिलाषा है, तो ईश्वर और परलोकको स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। जो जीवन कुछ ही दिनोंमें समाप्त हो जाता है, ऐसे क्षणभंगुर जीवनको स्थायी बनानेके लिए बलवती लालसा कदापि नहीं होनी चाहिए। मानवप्रकृतिमें ईश्वर विश्वास स्वभावतः सिद्ध–धर्म होनेके कारण मनुष्यकी जीवनके लिए बड़ी–बड़ी आशाएँ, भरोसा और दूर–दृष्टि रहती है। ईश्वर–विश्वासरहित मानवप्रकृति सब प्रकारसे क्षुद्र एवं अर्थहीन है।

(६) युक्ति द्वारा स्थापित ईश्वर–विश्वास और उनके प्रति कृतज्ञतारूप धर्मालोचना न होनेपर सभी नीतियोंके राजास्वरूप ईशपूजाका भी अभाव हो जाता है। उससे जीवन अपूर्ण एवं मूल कर्त्तव्यके अभावमें हेय बन जाता है।

इन युक्तियोंके द्वारा सर्वप्रथम ईश्वर–विश्वासरूपी सिद्धान्तको स्थिर करना चाहिए। तत्पश्चात् उसके द्वारा अपने ज्ञानकी समृद्धि की जाए और उसके आश्रयमें विज्ञान, शिल्प, नीति और ईश्वर–विश्वासके द्वारा अपने जीवनको उन्नत और मङ्गलमय बनाना चाहिए—ऐसा

होनेपर ईश्वर तुम्हें लोक और परलोकमें सुख एवं शान्ति प्रदान करेंगे। ईश्वरका परित्यागकर जो कुछ करोगे, उससे तुम कोई पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं कर सकोगे। कल्पित ईश्वरकी अपेक्षा वास्तव ईश्वर तुम्हारा अधिक कल्याण करेंगे। विज्ञान, शिल्प, नीति और ईश्वरज्ञानका अनुशीलन करना ही कर्त्तव्य है। यह अनुशीलन दो प्रकारका है—(१) अवैध-अनुशीलन और (२) वैध-अनुशीलन। अधिकार विचारकी अपेक्षा न कर असमयमें अनियमित रूपसे जो अनुशीलन होता है, वह अवैध है और अधिकार विचारके साथ उचित समयपर नियमित रूपमें जो अनुशीलन होता है, वह वैध है। जो व्यक्ति जिस अनुशीलनके लिए जितना ही योग्य हो, उसका अनुशीलन उतना ही शीघ्र सफल होता है। योग्यता स्वभावके अनुसार ही होती है। स्वभाव भी प्राथमिक वातावरण, शिक्षा और सङ्गके अनुरूप बनता है। बन्धुओ! आप अपने स्वभावको समझ-बूझकर वर्णाश्रमरूप वैज्ञानिक धर्म जो भारतवर्षमें प्रचलित हुआ था, उसका अवलम्बन करनेसे आपके अधिकारके अनुरूप कार्य होगा और उत्तम फल भी प्राप्त होगा। सद्युक्ति एवं अपने सत्तागत विश्वासके द्वारा अपनी आत्माको अमर समझें। ऐसा होनेपर आपका वैध-जीवन सब प्रकारसे सुन्दर हो जाएगा। आप आत्माको माताके गर्भसे जन्मा हुआ समझते हैं; किन्तु सद्युक्तिके द्वारा उन्नत भाव अवलम्बनकर अब ऐसा समझें कि इस जन्मके पहले भी आप थे, अब भी हैं और शरीरत्यागके पश्चात् भी रहेंगे। ऐसा सिद्धान्त होनेपर ही आपका ईश्वर-विश्वास और भी उन्नत और पवित्र होगा। एक बात और है। किसीने एक साधु स्वभावके व्यक्तिके घरमें जन्म ग्रहण किया। बचपनसे ही उस घरके सुन्दर वातावरणके कारण अनायास ही उसमें साधुभाव आ गया। कोई दूसरा व्यक्ति असाधु गृहमें जन्म लेनेके कारण कुसंसर्गके द्वारा उसके असाधु बननेकी सम्भावना बढ़ गई। क्रमशः शिक्षा और सङ्ग उनके लिए अनुकूल और प्रतिकूल होने लगे। जब उनकी बुद्धि परिपक्व हो गई, तब उनका स्वभाव भी स्थिर हो गया। उस स्वभावके अनुसार कार्य करनेपर एक ही जीवनमें एक व्यक्ति स्वर्ग और दूसरा व्यक्ति नरक प्राप्त करेगा। क्या यह

सर्वशक्तिमान, परम दयालु, सर्वविचारसम्पन्न ईश्वरके लिए उपयुक्त है? अर्थात् कभी नहीं। जिन क्षुद्र धर्मोंमें केवल एक जीवनके ही अच्छे या बुरे कर्मोंको स्वीकार किया जाता है, पूर्व–पूर्व जन्मोंके कर्म, कर्मफल एवं संस्कार आदि स्वीकार नहीं किए जाते, वे धर्मसमूह नितान्त अपूर्ण एवं अयुक्त हैं। आप लोग उन क्षुद्र धर्मोंमें आबद्ध न रहकर जीवके उन्नत भावको ग्रहण करें और वर्णाश्रमधर्मका अवलम्बन करें। तभी आप लोग यथार्थ सुख अनुभव कर सकेंगे। कर्म ही प्रधान कर्त्तव्य है। कर्म दो प्रकारके हैं—सकाम और निष्काम। सकाम कर्म साक्षात् रूपसे इन्द्रियपोषक हैं। आप लोगोंको उनमें रुचि रखना उचित नहीं। निष्काम कर्मका नाम ही कर्त्तव्यानुष्ठान है। कर्त्तव्यानुष्ठानमें इन्द्रियसुख हो अथवा न हो, इसकी चिन्ता नहीं रहती। उसमें काम नहीं रहता, क्योंकि स्वार्थपरताको ही काम कहते हैं। कर्त्तव्यके उद्देश्यसे किए गए कर्मोंमें काम नहीं होता। कर्त्तव्य–अनुष्ठानसे श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं और श्रीहरिके सन्तुष्ट होनेपर भोग और मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होती है।

सम्बन्धज्ञानकी आलोचना करना आरम्भ

सेश्वर–नैतिक व्यक्ति उपर्युक्त युक्तियोंको स्वीकारकर शुद्ध वर्णाश्रम–धर्ममें स्थित होकर जीवन–यात्राका निर्वाह करते हैं। उनमें जीवनका उद्देश्य उत्तम रूपसे निर्णय करनेके लिए आग्रह और प्रयत्न उदित होता है। साथ ही जीव और ईश्वरमें यथार्थ सम्बन्ध क्या है, इसका भी विचार आरम्भ होता है। यही अवस्था सेश्वर–नैतिक व्यक्तिका नर–जीवन है। उस समय उनके मनमें ऐसा विचार होता है कि मैंने अन्यान्य सब विषयोंपर सिद्धान्त स्थिर कर लिया है, परन्तु मूलतत्त्वके विषयमें मैंने आज तक सोचा भी नहीं। उस समय वे मैं कौन हूँ? जगतके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? और अन्तमें मेरी स्थिति कहाँ है? इन प्रश्नोंपर विचार करने लगते हैं।

इन प्रश्नोंपर विचार करते–करते तीन प्रकारसे सङ्गति कर पाते हैं—(१) स्वसुख–प्रयोजक कर्म–सङ्गति, (२) स्वार्थ–विनाशरूप निर्विशेष ज्ञान–सङ्गति और (३) शुद्ध स्वधर्मालोचनरूप भक्ति–सङ्गति।

कर्म-सङ्गति

पहली सङ्गति द्वारा सेश्वर-नैतिक व्यक्ति स्थिर करते हैं कि मैं क्षुद्र जीव हूँ, धर्माधर्मके वशीभूत हूँ, सर्वदा सुखाभिलाषी हूँ, जगतके साथ मेरा भोग्य-भोक्तृ सम्बन्ध है; मैं भोक्ता हूँ, जगत भोग्य है। जगतका कोई अंश-विशेष निर्मल भोगका पीठस्वरूप है; वहाँ जाकर निर्मल सुख भोग करूँगा। ईश्वरके साथ मेरे ये सम्बन्ध हैं—ईश्वर सृष्टा हैं, मैं सृष्ट हूँ; ईश्वर दाता हैं, मैं गृहीता हूँ; ईश्वर पाता हैं, मैं पालित हूँ; ईश्वर रक्षक हैं, मैं रक्षित हूँ; ईश्वर शक्तिमान हैं एवं मैं दुर्बल हूँ; ईश्वर लयकर्त्ता हैं, मैं नष्ट होने योग्य हूँ; ईश्वर विधाता हैं, मैं विधिके अधीन हूँ; ईश्वर विचारक हैं, मैं विचारित होनेका पात्र हूँ। ईश्वर प्रसन्न होनेपर मेरा दुःखका विनाश और सुखकी प्राप्तिका योग्य स्थान प्राप्त होगा। अध्यात्मयोग भी कुछ अंशोंमें इसी सङ्गतिके अन्तर्गत आ जाता है। अष्टाङ्गयोगकी अध्यात्मसमाधि भी इसीका उदाहरण है, क्योंकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान और धारणा—ये कर्माङ्ग हैं। प्रत्याहार फललाभकी चेष्टा है। दुःख-विनाश एवं सुख-व्याप्ति ही समाधिका चरम लाभ है।

निर्विशेष ज्ञान-सङ्गति

दूसरी सङ्गति प्राप्त होकर सेश्वर-नैतिक व्यक्ति कर्मको त्यागकर निर्विशेष चिन्तारूढ़ होते हैं। तब वे कहते हैं कि मैं ज्ञानमय वस्तु हूँ, ब्रह्म भी ज्ञानमय हैं। मैं उनका अंशविशेष हूँ। जड़समुदाय ही मेरी दुर्गति है। जड़के साक्षात् विपरीत पदार्थ ही ब्रह्म हैं। मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ; मैंने भ्रमके कारण ही जीवरूपी नाम और उपाधि प्राप्तकी है। ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है; तब जो यह जगत देखा जा रहा है, वह मेरे अज्ञान द्वारा कल्पित है। मैं ब्रह्म हूँ—ऐसा निश्चय ज्ञान होनेपर मुझे निर्वाणकी प्राप्ति होगी। निर्वाण ही मेरे जीवनका चरम लक्ष्य है।

भक्ति-सङ्गति

तीसरी सङ्गति द्वारा सेश्वर–नैतिक व्यक्ति कहते हैं कि मैं वस्तुतः चित्–पदार्थ हूँ; किन्तु मैं अणुचैतन्य हूँ एवं भगवान् बृहत्चैतन्य हैं। जड़जगत मिथ्या नहीं है। जड़जगतकी स्थूल वस्तुओंमें जो 'मैं और मेरा' का आरोप है, वह अज्ञान कल्पित है। मैं नित्य भगवत्–दास हूँ। जड़जगतके साथ मेरा सम्बन्ध अनित्य है। वह सम्बन्ध भगवत्–इच्छासे ही संघटित हुआ है। मेरी भगवत्–विमुखता जितने ही परिमाणमें दूर होगी, उतने ही परिमाणमें मेरा जड़सम्बन्ध भी शिथिल होगा एवं चित्–सम्बन्ध प्रबल होगा। मेरी आत्मगत सत्तामें जो भगवत्–दास्यरूप एक नित्य वृत्ति है, उसी स्वधर्मका अनुशीलन करते–करते गौण–फलस्वरूप जड़मुक्ति होगी एवं अन्तमें नित्य फलस्वरूप प्रेम प्राप्त होगा। भगवान्के साथ मेरा नित्य सेव्य–सेवक सम्बन्ध है।

कर्मी

पहली सङ्गतिमें जो लोग आबद्ध हो जाते हैं, वे कर्मको ही प्रधान जानकर भगवान्को कर्मांगके रूपमें ग्रहण करते हैं। उनके साधनका फल भी नित्य नहीं होता। उनकी सङ्गति निर्दोष नहीं है, एवं उनके जीवनमें भगवान्की कोई स्वाधीन–स्फूर्त्ति नहीं है। अतएव उन्हें कर्मी कहा जाता है।

ज्ञानकाण्डी

द्वितीय सङ्गतिमें जो आबद्ध हो जाते हैं, वे आत्म–विनाशको उद्देश्यकर फल्गुवैराग्यका आचरण करते हैं। न तो इस जगतमें उनको कोई प्रतिष्ठा मिली और न कोई पारलौकिक सिद्धतत्त्व ही मिला। कुछ व्यतिरेक चिन्ताओंको लेकर उनका जीवन वृथा ही चला गया। इन्हें ज्ञानकाण्डी कहा जाता है।

पहली सङ्गतिमें आबद्ध व्यक्ति तृतीय सङ्गतिके अनुगत जीवनके सम्बन्धमें ऐसा पूर्वपक्ष किया करते हैं—भक्तिका आश्रय लेकर तुम

इस जगतकी सभी वस्तुओं एवं वस्तुगत सुखोंको तुच्छ समझ रहे हो। स्वर्गादि स्थानों एवं वहाँके सुखोंको भी तुच्छ बतला रहे हो। जब तुम्हें सूक्ष्म ब्रह्मसे लेकर स्थावर तक वस्तुओंमें इतना वैराग्य है, तब तो तुम जगतकी उन्नतिकी कोई भी चेष्टा नहीं करोगे एवं जगतको ही विच्छिन्न कर डालोगे। यह जगत हमारा कर्मक्षेत्र है। यहाँ परमेश्वरका प्रिय कार्य साधनकर हम इस समयमें तथा मृत्युके पश्चात् भी सुख प्राप्त करेंगे। तुम उन सबका नाशकर सभीकी सुखकी प्राप्तिमें बाधा प्रदान कर रहे हो।

कर्मी और भक्तमें पार्थक्य

भक्तजन इसका प्रत्युत्तर इस प्रकार देते हैं—भाई! इस जगतकी उन्नतिसे यद्यपि जीवोंको कोई विशेष लाभ नहीं है, तथापि भक्त-जीवनकी परीक्षा कर देखो, कि इस जगतका जो कुछ कल्याण होगा, वह भक्त द्वारा ही होगा। तुम विज्ञान, शिल्प, कारीगरी और नीति आदिकी जितनी भी उन्नति कर सकते हो, करो। उससे हमारा तिल भर भी विरोध नहीं है। बल्कि उसके द्वारा भक्ति-अनुशीलनमें बहुत-कुछ सुविधा ही होगी। हम मर्कट या फल्गुवैरागी नही हैं। हम वस्तुतः अनुरागी हैं। हमारा यही मात्र कहना है कि सभी कर्म भगवत्-सन्मुखताको प्राप्त करें। कर्मोंका गौण फल जो स्वार्थसुख है, उसके द्वारा कोई भी कर्म चालित न हो। भगवद्भक्तिकी उन्नतिके लिए ही सभी कर्म किए जाएँ। कार्यके सम्बन्धमें तुम्हारे एवं मेरे जीवनमें कोई विशेष भेद नहीं है। थोड़ा-सा भेद यही है कि तुम कर्त्तव्यबुद्धिमें जो कार्य करोगे, मैं भगवत्-दास्यभाव मिश्रितकर उसी कार्यको करूँगा। किसी समय मेरी विरक्ति द्वारा कर्मचेष्टा खण्डित होती है। वह भी तुम्हारी किसी अवस्थामें कर्मसे विश्रामकी प्राप्तिकी तरह ही है। तुम निरर्थक विश्राम प्राप्त करोगे, मैं भगवद्भक्ति द्वारा कर्मसे अवसर प्राप्त करूँगा। जगत तुम्हारे लिए कर्मक्षेत्र है, किन्तु मेरे लिए वही भक्तिसाधनका क्षेत्र है। तुम्हारे द्वारा किए गए सभी कर्मोंको मैं बहिर्मुख कर्म जानता हूँ, क्योंकि तुम कर्मफल पानेके लिए वे सभी

कर्म करते हो, भगवान्‌के लिए नहीं। तुम्हारा नाम सेश्वर–नैतिक या कर्मी है, किन्तु मेरा नाम भक्त है।

कर्मी और भक्तमें अन्तर क्या है?

सेश्वर–नैतिक एवं भक्त–जीवनके सभी क्रिया–कलाप प्रायः समान ही होते हैं; केवल निष्ठा भेदसे उनके स्वभावमें अन्तर होता है। सेश्वर–नैतिक व्यक्ति कर्मजड़ हैं अर्थात् उनके कर्म जड़ातीत चित्–वस्तुके उद्देश्यसे नहीं किए जाते; अतएव वे नितान्त हेय कर्म हैं। ईश्वरको माननेपर भी उनको ईश्वरके स्वरूपका बोध एवं जीवकी गतिका बोध नहीं है। उनका कर्मचक्रसे उद्धार नहीं होता। जो सभी सेश्वर–नैतिक व्यक्ति जड़जगतको नगण्य समझकर चित्–जगतकी लालसा करते हैं, वे लोग जड़कर्म–बन्धनसे मुक्त होनेके लिए तीन प्रकारके उपाय स्थिर करते हैं—

(१) जड़कर्मके अभ्यासको क्रमशः कम कर चित्तत्वमें प्रतिष्ठित होना।

(२) चित्स्वरूप–विष्णुके लिए कर्मार्पण करना। कर्म करते समय विष्णु–प्रीतिके लिए सङ्कल्प करना एवं कर्म समाप्त होनेपर उसे श्रीकृष्णको अर्पण करना।

(३) जिन कर्मोंके किए बिना चल नहीं सके, ऐसे कर्मोंमें सर्वाङ्गीण रूपसे श्रीकृष्णभक्तिको मिश्रित करना। जो कर्म नहीं करनेपर भी जीवन–यात्राका निर्वाह हो जाए, उसका परित्याग करना।

तापस या योगीकी चेष्टा

जो लोग पहले उपायका अवलम्बन करते हैं, वे तापस या योगी हैं। तापस व्यक्ति बहुत कष्ट सहकर कर्म–बन्धनको ढीला करना चाहते हैं। वैदिक पञ्चाग्नि–विद्या एवं निदिध्यासन आदि वैदिक योग–तापसोंकी प्रक्रियाएँ हैं। अष्टाङ्गयोग, षडङ्गयोग, दत्तात्रेयीयोग एवं गोरखनाथयोग आदि बहुत प्रकारके योग हैं। उनमेंसे तन्त्रमें कहे गये हठयोग एवं पातञ्जलमें कहे गये राजयोगका जगतमें बहुत कुछ आदर है। पातञ्जल दर्शनका अष्टाङ्गयोग सबसे प्रधान है। इस योगका

तात्पर्य यह है कि कर्मबद्ध जीव पहले अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—इन पाँच प्रकारके यमोंका अभ्यास करे एवं शौच (पवित्रता), तपस्या, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियमोंका अभ्यास करे। उसके द्वारा असत्कर्मका परित्याग एवं सत्कर्मका अभ्यास होनेपर आसनका अभ्यास एवं तत्पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करते हुए जितश्वास हो। जितश्वास होकर पहले विष्णुमूर्त्तिका ध्यान और पश्चात् धारणा करे। समस्त विषय-निवृत्तिरूप प्रत्याहार ध्यानके पहले ही करना होगा। पश्चात् चित्त निर्मल होनेपर समाधिका अवलम्बन करे। इस प्रक्रियाका मूल तात्पर्य यह है कि अभ्यास द्वारा कर्मका त्यागकर कर्मशून्य हो जाए। इसमें बहुत विलम्ब होता है एवं बहुत-सी बाधाएँ उपस्थित होती हैं।[४]

बहिर्मुख चित्त

जो लोग दूसरा उपाय अवलम्बन करते हैं, वे लोग यह सोचते हैं कि चित्त जिस विषयके प्रति अनुरक्त है, उसकी आलोचना करते समय पहले विष्णुप्रीतिका संकल्प एवं अन्तमें कृष्णार्पण करना चाहिए। यह स्वभाव-विरुद्ध कार्य है।[५] विषय-राग द्वारा चालित चित्त

---

[४] यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाद्धात्मा न शाम्यति॥
(श्रीमद्भा. १/६/३६)

[५] एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत् परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षया सकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च॥
(श्रीमद्भा. १/५/३४-३६)

वर्णाश्रमधर्मको यथार्थ रूपमें स्थापित करनेके लिए आजकल उसमें जो दोष एवं त्रुटियाँ उत्पन्न हो गई हैं, सर्वप्रथम उन्हें दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वदेश हितैषियोंको निम्नलिखित शास्त्र-तात्पर्यका अनुधावनकर समाजमें उसका

(*अगले पृष्ठपर*)

प्रयोग करनेके लिए साहसपूर्वक अग्रसर होना चाहिए। ऐसा नहीं करनेसे विश्वका और विशेषतः भारतका कल्याण होना सम्भव नहीं है।

ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा; अथ पुनरव्रती वा अस्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरज्येत, तदहरेव प्रव्रज्येत। (जावालोपनिषद्मे)

यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणा–क्रियाहीनं षडुर्मि–षड् भवेत्यादि–सर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारम–शेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्त्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्युतमखण्डानन्दस्वभावं अप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षी–कृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादि–सम्पन्नोऽभावमात्सर्य–तृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहङ्कारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्त्तते, एवं उक्तलक्षणो यः स एवं ब्राह्मण इति। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव। (वज्रसूचिकोपनिषद्में)

य एतदक्षरं गार्गि विदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति, स ब्राह्मणः। (बृहदारण्यक उपनिषद्में)

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्त्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥
यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/११/३२, ३५)

स्वामी टीका—"यद्यदि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्येत, तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षण–निमित्तेनैव वर्णेन विनिर्दिशेत्, न तु जातिनिमित्तेनेत्यर्थः।"

महाभारतके वनपर्व, युधिष्ठिर–अजगर संवाद (१८० अध्याय) में—

ब्राह्मणः को भवेद्राजन् वेद्यं किंच युधिष्ठिर।

युधिष्ठिर उवाच—

सत्यं ज्ञानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपोऽघृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रै तन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

अजगर उवाच—

यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः।
वृथा जातिस्तदायुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते॥

(*अगले पृष्ठपर*)

क्या स्वाभाविकरूपसे विष्णुप्रीतिकी कामनाका सङ्कल्प कर सकता है? यदि लोकरक्षाके लिए ही ऐसा सङ्कल्प करें, तो उसे चित्तका अपना कार्य नहीं कहा जा सकता यह तो केवल मनको थोड़ा-सा बहलाना ही हुआ। भविष्यत् जन्ममें प्रचुर अन्न-प्राप्तिकी आशासे जो स्त्रियाँ अन्नपूर्णाकी पूजा करती हैं, उसमें विष्णु-प्रीतिका सङ्कल्प केवल दिखावामात्र है। इस प्रकारकी सङ्कल्प-विधि एवं अर्पण-विधि जीवको कर्मबन्धनसे कदापि मुक्त करानेमें समर्थ नहीं हैं, इस विषयमें कुछ अधिक कहना ही व्यर्थ है।

अन्तर्मुख जीवन

तीसरा उपाय युक्तियुक्त या उपयुक्त है। क्योंकि चित्तका जिस विषयके प्रति अनुराग है, उसीके अनुकूल रूपसे कार्य होता है। चित्त स्वादिष्ट खाद्यमें आसक्त है, उसे भगवत्-प्रसाद रूपसे ग्रहण करनेपर भगवद्भावका प्रचुर अनुशीलन एवं विषय-राग—दोनों एक ही साथ कार्य करने लगे। इससे उच्च रसके आस्वादन द्वारा निम्नस्थ राग शीघ्र ही उच्च रसमें परिणत हो जाता है। इसीको गौणीभक्ति

युधिष्ठिर उवाच—

जातिरत्र महासर्प! मनुष्यत्वे महामते।
संकरान् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः॥
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्यत्तत्त्वदर्शिनः॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वामाशु गच्छति सान्वयः॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिष्वत्वं न विद्यते॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

(मनुः)

जन्म, वृत्ति एवं शील—इन कतिपय लक्षणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि निर्णीत नहीं होनेपर वर्णाश्रमधर्म और उससे ऊपरवाला वैधभक्त-जीवन सम्भव नहीं होगा।

निर्दिष्टकर कर्मको पृथक् कर दिया जाता है। अतएव इसी उपायके द्वारा कर्म करनेपर भी कर्मकी सत्ताका लोप सम्भव हो सकता है। शारीरिक एवं मानसिक सारे कार्य जब इस प्रवृत्ति द्वारा किए जाएँ, तब कर्म गौणीभक्तिके रूपमें दास बनकर मुख्यभक्तिकी सब प्रकारसे सेवा करता है। सेश्वर–नैतिकोंमेंसे जिन व्यक्तियोंमें यह प्रवृत्ति प्रबल है, उनका ही जीवन अन्तर्मुख है। दूसरे सेश्वर–नैतिकोंका जीवन बहिर्मुख है।[६]

जीवके लिए भक्ति ही परमपुरुषार्थ है

इन सभी पूर्वपक्षोंका खण्डनकर भक्ति ही जीवोंके लिए एकमात्र अनुष्ठान करने योग्य कर्त्तव्य है, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। भक्ति ही जीवका परम पुरुषार्थ है। यह जगतकी उन्नति एवं अपने पारमार्थिक कल्याण साधनका अविरोधी है तथा शान्ति और निर्मल आनन्द द्वारा जीवको भगवत्प्रेममें डुबो देती है। भक्त–जीवन ही यथार्थ नर–जीवन है। यह सम्पूर्ण एवं मङ्गलमय है। यही जगतके भीतर एकमात्र वैकुण्ठ या नित्य तत्त्व है।[७]

प्रेममय जीवन

जब भक्त–जीवन साधनभक्तिका अनुशीलन करते–करते भाव–जीवनका अतिक्रम करते हुए प्रेम–जीवनमें पदार्पण करता है, तब सर्वमाधुर्य एवं ऐश्वर्यके पति भगवान् श्रीनिवास उनका परम रसभण्डार खोलकर आह्वान कर कहते हैं—"सखे! यह भण्डार मैंने यत्नपूर्वक

---

[६] आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥
(श्रीनारदपञ्चरात्र)

[७] अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा. १२/१२/५५)

तुम्हारे लिए ही रखा है, तुम इसके एकमात्र अधिकारी हो। तुम मुझे परित्यागकर अब तक मेरी मायाशक्तिके अन्धकारमें भटक रहे थे। मैं तुमसे मिलनेके लिए अत्यन्त व्याकुल था। इसके लिए सदैव मैंने प्रयत्न भी किए। आज बड़े आनन्दकी बात है, तुम स्वयं मेरे पास आ गए। तुम मेरे नित्य-नवीन प्रीतिमय श्रीविग्रहकी सेवा करते हुए अपार आनन्दसमुद्रमें मेरे साथ क्रीड़ा करो। तुम्हें भय नहीं है, शोक नहीं है, क्योंकि तुमने अमृत प्राप्त कर लिया है। तुमने मेरे लिए सभी बन्धन तोड़ दिए हैं। मैं तुम्हारी प्रीतिका ऋण शोध नहीं कर सकता। तुम अपने कार्य द्वारा स्वयं सन्तुष्ट हो जाओ।"

श्रीचैतन्य-शिक्षामृतको छोड़कर जो लोग दूसरी शिक्षाओंको ग्रहण करते हैं, ऋषभदेवजीने उनके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्धके पाँचवें अध्यायमें एक उपदेश प्रदान किया है। तुम उसे यत्नपूर्वक अपने मस्तकपर धारण करो—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेत् यः समुपेतमृत्युम्॥

(श्रीमद्भा. ५/५/१८)

अर्थात् भक्तिपथके उपदेश द्वारा जो व्यक्ति समुपस्थित मृत्युरूपी संसारसे मोचन नहीं करा सकते, वे गुरु 'गुरु' नहीं हैं; वे स्वजन 'स्वजन' नहीं हैं, वे पिता 'पिता' नहीं हैं, वे माता 'माता' नहीं हैं, अर्थात् उनका गर्भधारण करना अनुचित है; वे देवता 'देवता' नहीं हैं अर्थात् उनका पूजा ग्रहण करना अनुचित है एवं वे पति 'पति' नहीं हैं अर्थात् उनका पाणिग्रहण करना उचित नहीं है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रार्पणमस्तु।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

श्लोक-सूची

अ

	पृष्ठ संख्या
अकामः सर्वकामो	१५०
अकुटिलमूढ़ानां	३२०
अक्षैर्विक्रीड़तः	३५६
अंगानि यस्य	४
अग्रतो वक्षयमाणायास्त्रिधा	२१४
अंगसंवाहनं	४०६
अचिन्त्याः खलु	६७, ३७६
अतः पुंभिर्द्धिजश्रेष्ठा	१५२
अतः राधिकाकृष्णौ	३४४
अतएव क्वचित्तेषु	२९०
अतएव दूरत	१९०
अतत्त्वतोऽन्यथाबुद्धिः	६९
अतो भागवतो	२४८
अत्याहारः प्रयासश्च	१५६
अत्र किंचिद् कृशं	४१०
अत्र त्यज्यतयैवोक्ता	२८२
अत्र शान्तिरतिः	३९२
अत्रापस्मारसहिताः	४१२
अत्रैव परमोत्कर्षः	४२१
अथ खिन्नः	२८८
अथ देशान्	१६७
अथ पञ्च-गुणा	४९
अथ यदिदमस्मिन्	४१५
अथवा सर्वेषां	३२५
अथात्र सात्त्विकभासा	३८१
अथापि ते देव	४४
अथासक्तिस्ततो	३०३
अथैतस्य सहायाः	४२५
अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावा	३८२
अथोच्यन्ते गुणाः	४९
अथो महाभाग	४२, २४८
अद्यापि वाचस्पतयः	२३८
अधिकन्मन्यभावेन	४१०
अधिरूढ़े महाभावे	३८२
अनन्यमयता	२९९
अनन्याश्चिन्तयन्तो	२९२
अनर्थोपशमं	१६, ४३, ३१६
अनाचान्तधियां	३७३
अनिमित्ता भागवती	१५८, २७१
अनिरुद्धादिनप्तृणां	४१३
अनुकूलदक्षिण	४२५
अनुग्रहस्यस संप्राप्तिः	३९७
अनुग्रहाय भक्तानां	४२३
अनुग्राह्यस्य दासत्वात्	३९४
अनुभावाः शिरोघ्राणं	४११
अनुभावास्तु	३८०
अन्तर्बहिश्च	२५५
अन्तवत्तु फलं	२७६
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं	१४९
अन्याभिलाषिताशून्यं	१९, १५७
अन्वीक्षिक्या	१०६
अन्वीक्षेतात्मनो	२२२
अपरेयमितस्त्वन्यां	५८
अपि चेत् सुदुराचारो	३०४

अपि तत्र गतप्राणा ३५५
अप्रतीतौ हरिरतेः ४१३
अप्रारब्धं भेवत् २१३
अभितो मञ्जु ३५५
अभ्यङ्गैर्मर्दनं ३५३
अभ्यर्थितस्तदा १३८
अयं नेता ४८
अयि नन्दतनूज ३१९
अरे चेतः ३४१
अर्चायां स्थण्डिले १४
अर्चायामेव ३३२
अर्जुनो भीमसेनश्च ४०२
अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता २५७
अर्थशास्त्रेण किं २३०
अर्थेन्द्रियाराम ९३
अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं २६४
अर्थेह्यविद्यमानेऽपि ५८
अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां ३४
अलब्ध्वा न २२२
अलौकिकी त्वियं ३८३
अवजानन्त्यमी २५१
अवतारान्तरवत् ३२४
अवतारावलीबीजं ४९, ३९४
अविदूर इतः ३५०
अविरुद्धं ३७२
अविरुद्धान् ३७२
अविरुद्धैः ३७२
अविस्मृतिः कृष्ण ४६६
अवैष्णवोपदिष्टेन १९०
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं २७२
अव्रतानाममन्त्राणां ४६५
अशौचमनृतं १०१
अश्रमाभीष्टनिर्वाही २९१
अष्टाङ्गपातैः ३५७
असंकल्पाज्जयेत् १०६
असच्चेष्टाकष्टप्रद ३४०
असत्यमप्रतिष्ठन्ते ५
असाक्षात् स्वस्वयूथेश ४०६
असेवयायं २८४
अस्त्येव मे ३१७
अस्ति यज्ञपतिर्नाम २६३
अस्मिँल्लोके १०३
अस्मिन्नालम्बनाः ४१८
अस्यैव सिद्धदेहस्य ३४५
अहंकारं बलं १६६
अहमात्मात्मना २६१
अहमेवासमेवाग्रे २४१
अहिंसा सत्यं १२१

आ

आकृष्टिः कृतचेतसां ३३२
आक्रमान्मुख्यया ३८०
आगच्छति व्रजं ३५७
आत्मानं चिन्तयेत् ३४९
आत्मानं चेद् विजानीयात् १२६
आत्मानमन्यञ्च ५४
आत्मा वा अरे ३१४
आत्मारामस्तु ३९०
आत्मोचितैर्विभावाद्यैः ३९४
आदरः परिचर्यायां १६१
आदौ कृतयुगे १२४
आदौ श्रद्धा ३०३
आद्यं मध्यं तथा ४१०
आद्यन्तवन्त एवैषां २७९

आध्यात्मिकानुश्रवणान् २५९
आनन्द-चिन्मय-रस ४२८
आनन्दश्चद्रहासश्च ३९७
आनन्द सागरे ३५७
आनन्दैकसुखस्वामी ३२६
आनुकूलयस्य सङ्कल्पः ३१०
आमयो यश्च १९२
आयुष्कामोऽश्विनौ १४९
आयुष्मान् मे ३५३
आराधनानां सर्वेषां २८६
आराधितो यदि ४६६
आलम्बनोऽस्मिन् ३९४
आविर्भूय मनोवृत्तौ २१४
आशाबन्धो भगवतः २२६
आश्रमापसदा १२६
आश्रितादेः पुरैवोक्तः ३९९
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने २२०
आसामहो चरणरेणु ४२३
आस्तिक्यं दाननिष्ठा १२१
आहारार्थं समीहेत २२२
आहुकप्रभृतीनां ४१३

इ

इतरेषां मदादीनां ३९९
इति पुंसार्पिता ७३
इति मां यः २६५
इति संचिन्त्य ४२२
इत्थं परिमृशन् ११४
इत्थं भुक्त्वा ३५३
इत्थं मनोरथं २१६
इत्थं शरत् ३०७
इत्यात्मानं ३४९
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य ३५०
इत्युद्धवादयोऽप्येतं २०७
इत्येष भक्तिरसिकैः ३८६
इदं हि पुंसस्तपसः ३३५
इदं हि विश्वं २४८
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः २६४
इयं तु व्रजदेवीषु २०७
इष्टं दत्तं तपो १६०
इष्टं दत्तं हुतं ११८, १६१
इष्टामूर्त्तेन मामेवं १०८
इष्टे स्वारसिकी २०३

ई

ईश्वरः परमः कृष्णः ४०, ३२६
ईश्वरे तदधीनेषु १७२, ३३३

उ

उक्तः पतिः ४२१
उज्ज्वलोऽयं विशेषेण ४०३
उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं २२५
उत्थाय दन्तकाष्ठादि ३५२
उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैः ४२५
उद्दीपना वयोरूप ४०५
उद्दीपनास्तु ते ३७९
उद्धवो दारुको ३९७
उद्भास्वरः पुरोक्ता ३९९
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति ३८२
उपविश्यासने दिव्यं मधुपानं ३५५
उपविश्यासने दिव्यं सगर्णो ३५६
उपविष्टौ ततौ ३५२
उभयत्र परे ३९९

ऋ

ऋगभिरेतं यजुर्भि ३२४
ऋतेऽर्थः यत् ४५

ए

एकश्चरेन्महीमेतां २२२
एकस्यैव ममांशस्य १८
एकान्तकुसुमैः ३५९
एकान्तिनो यस्य ३३५
एकोऽपि वेदविद्धर्मं ४६५
एतत् संसूचितं १९२
एतदक्षरं गार्ग्य ३१३
एतन्निर्विद्यमाना ८८, ३१८
एत आत्महनोऽशान्ता १८०
एतावज्जन्मसाफल्यं ९२
एतावदेव जिज्ञास्यं ४४२
एतावानेव यजतामिह १५०
एतावानेव लोके ३१८
एते चांशकलाः ४०
एते चान्ये २५१
एते पंचदशानर्था १३५
एतेषां प्रवरः ३९७
एतेषु तस्य ३९७
एतैरुपद्रुतो नित्यं २३८
एवं कुटुम्बभरणे ३६९
एवं कृष्णमतेः ५९
एवं कृष्णात्मनाथेषु १६९
एवं गुणस्य ४०९
एवं गुणाः ४९
एवं गुरूपासनयैकभक्त्या ६९
एवं तैस्तद् ३५७
एवं तौ ३५६
एवं धर्मैर्मनुष्याणां १६१
एवं नामान्विन्तो ३३४
एवं नृणां क्रियायोगाः १९२, ४६३
एवं पद्मोपरि ३४८
एवं प्रकृति ११
एवं प्रवृत्तस्य ३०७
एवं विविधया ४०३
एवं व्रतः ३००
एवमेकान्तिनां ३११
एषां पार्षदवत् ३९७
एषा तु संभ्रमप्रीतिः ३९९
एषा रसत्रयी ४१३

ऐ

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य २४४

ओ

ॐ आहस्य जानन्तो ३२१
ॐकार एवेदं ३२४
ॐकारो विदितो ३२४
ॐ तत्सदिति निर्देशो ६२

औ

औग्रयं त्रासं ४०७
औग्र्यामर्षासूया ३८२

क

कङ्कनाङ्गद–केयूर ३५३
कथामाहूयते ३५३
कदा शैलन्द्रोण्यां ३९१
कनिष्ठकल्पाः सख्येन ४०२
कन्यकाश्च परोढ़ाश्च ४२२

कर्मणो ह्यपि १०४
कर्मण्यकर्म १०४
कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट् ११४
कर्माणि दुःखोदर्काणि १५०
कल्पवृक्षनिकुंजे ३५८
कामं क्रोधं ८४
कामप्राया रतिः २०७
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो ८८
कामानुगा भवेत्तृष्णा २०८
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः २७६
कालाद् गुणव्यतिकरः ६०
कालेन नष्टा १०
किंकिणी स्तोककृष्णांशु ४०३
किञ्चिद्विशेषमप्राप्ता ३७२
किं जन्मभिः २४४
किंदेवाः १०
किं पुनर्ब्राह्मणाः १५७, ३०४
किंवा योगेन २४४
किन्तु ज्ञानविरक्त्यादि १९८
किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज २८३
किन्तु बालचमत्कारकारी २८९
किन्तु भाग्यं बिना २९०
कुञ्जाङ्गोष्ठं ३५१
कुटुम्बेषु न सज्जेत ११४
कुर्वाणा यत्र १९२, ४६३
कुर्यात् सर्वाणि १०४
कृत्वा तावन्तं ४२१
कृत्वा हरीं २१४
कृपया भूतजं १०७
कृषिर्भूवाचकः ३२५
कृष्णं तस्य ४०९
कृष्णं स्मरन् २०६, ३४४
कृष्णमेनमवेहि ४१
कृष्णशब्दः ३२५
कृष्ण शब्दस्य ३२६
कृष्णसम्बन्धिभिः ३८०
कृष्णेति यस्य १७०, ३३३
कृष्णोऽपि विविधं ३५८
केवलेन हि भावेन ८३
केषाञ्चिद्हृदि भावेन्दोः २९१
को यज्ञपुरूषो २५१
को वेत्ति भूमन् ४४
कौटिल्यं तद्भ्रुवो ३५६
कौमार आचरेत् ७
क्रीड़तश्च ततस्तत्र ३५५
क्रीडस्यमोधसंकल्प २४९
क्लेशघ्नी शुभदा २१३
क्लेशास्तु पापं २१३
क्वचित् पुमान् ३४३
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीं २१९
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया ८३, २१९
क्वचिद्वेणुं ३५४
क्षणाददर्शनाद् ४०२
क्षणादेव ततो ३५६
क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं २२०
क्षिप्रं भवति ३०४
क्षीरं यथा ५४
क्षुद्रकौतूहलमयी २९०
क्षोभहेतावपि २२०

ख

खलु विषय–संशय ४४८

ग

गमनागमने ३४९
गम्भीरो विनयी ४२०
गर्भ–जन्म–जरा ३११
गवालयं पुनः ३५७
गाढ़ालिङ्गनजानन्दमाप्तौ ३५२
गाढ़ासङ्गात् २९०
गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं २१७
गुरवो हि हरेरस्य ३७८
गुरुणां च लघूनां ११०
गुरुर्न स स्यात् ९२, ४६७
गुरोरप्यवलिप्तस्य १९०
गुरोरवज्ञा १८५
गृहस्थस्य क्रियात्यागो १२६
गृहार्थी सदृशीं ११३
गोधूलिपटलव्याप्तं ३५७
गोपवेशधरः ३५४
गोपालोत्तरतापन्यां ४२८
गोप्यः कामात् ९
गोलोकनाम्नि ३७

घ

घ्राणस्य शिखरे ४१०

च

चतुर्द्धामी अधिकृत ३९४
चतुर्विधा सखायः ४२६
चन्द्रावल्येव सोमाभा ४२८
चामर–व्यजनादीनां ३४६
चित्तं सत्त्वीभवत् ३८०
चुम्बाश्लेषौ तथा ४११
चेतोदर्पणमार्जनं ३२२

छ

छन्नपंके स्थूलधिया १७४

ज

जने चेज्जातभावेऽपि २१९
जन्तुर्वै भव ३६९
जातश्रद्धो ८६
जातिरत्र महासर्प ४६५
जिज्ञासास्वादनावधिः ३७२
जिह्वैकतोऽच्युत १७३
जीवाः श्रेष्ठा २५७
जीवेष्वेते ४९
ज्ञानं मे परमं २४१
ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्त २४१
ज्ञानं विशुद्धं २४०
ज्ञानतः सुलभा ३११
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो २२२
ज्ञान वैराग्योर्भक्तिप्रवेशायो १९८

त

तं सुखाराध्य ३२०
तं हासयन्ति ४०३
त एते श्रेयसः १६७
तच्छ्रधाना मुनयो ३०४
ततः सखी ३५३
ततश्च सारिकासङ्गैः ३५२
ततश्च स्वरूपसामर्थ्य २३३
ततोः दुःसङ्गमुत्सृत्य १६९
ततो भजेत ८६
ततो यतेत ७
ततो वर्णाश्च २५७
ततो हरौ १९

तत्कर्म हरितोषं २३९
तत्तत्तसाधनतो ३७३
तत्तद्भावादिमाधुर्ये २०५
तत्प्रयासो १९६
तत्र ज्ञेया ३७९
तत्र तत्र स्थितो ३४६
तत्र पित्रा ३५८
तत्र भक्तो ३२८
तत्र यद्युपाधेरनाविद्यकत्वेन २३३
तत्र शास्त्र–प्रसिद्धाः ४२८
तत्रान्वहं कृष्णकथाः ३०७
तत्रापि वल्लभाधीश ३७६
तत्रापि सर्वथा ३४२, ४२८
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः २५७
तत्रायोगे मदं ४०७
तत्राशक्तिकृदन्यत्र ३७७
तथापि सङ्गः ३२९
तदश्मसारं हृदयं २९४
तदाज्ञापालको ३४६
तदा रजस्तमोभावाः ३०८
तदैव कल्पितैर्वेदैः ३५६
तद्यथा प्रियया ३४४
तन्मति प्रार्थनात् ३५८
तपस्विभ्योऽधिको ३०४
तमेवं यूय २६३
तमेव धीरो विज्ञान ३१३
तयोरप्युभयोर्मध्ये ४२८
तवास्मीति वदन् ३१०
तस्माच्छीलं ४६५
तस्मात्कर्मसु २३८
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य १५५
तस्मात् पात्रं १६८
तस्मात् सर्वेषु १८२
तस्मादर्थाश्च १९
तस्माद्यत्नेन २८३
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य ७८
तस्मान्मर्यार्पिता २५७
तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा २५१
तस्मिन्नेवापराधेन १८५, २९०
तस्मै स्वलोकं २५५
तस्यारविन्दनयनस्य २७६
तस्यैव हेतोः २६१, ३२०
तानानादृत्य यो ११७
तानातिष्ठति ११७
ताम्बूलाद्यर्पणं ४०६
ताम्बूलान्यपि ३५६
ताम्बूलैर्गन्धमाल्यैः ३५९
तावत् कर्माणि २९, ३०६
तावत् समोदते १५०
तावद्रागादयः ९२
तावुत्कौ लब्धसंगौ ३५९
तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः ३४२, ४३२
तुष्टे च तत्र ८
तृणादपि सुनीचेन ९१, ३३८
ते तं भुक्त्वा २६६
ते तु तस्यात्र ४१०
ते नाधीतश्रुतिगणा १५५
ते पंचषाब्दबालाभाः ३९०
ते पुरव्रजसम्बन्धात् ४०२
ते वै विदन्त्यतित २००, ३३०
ते शरण्या ३९६
ते शीताः क्षेपणाः ३८०
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः २०८
ते स्तंभस्वेद ३८०

तेजो बलं धृतिः १२१
तेन ते देवता–तत्त्वं २८८
तेन प्रोक्ता १०
तेन संसारपदवीम ६९
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा १०
तेषामहं समुद्धर्ता १६४
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु १४१, ३७१
तैस्तान्यघानि पूयन्ते ११०
त्यक्त्वा स्वधर्म ३१८
त्रिजगन्मानसाकर्षी ४९
त्रिविधा भवति १०३
त्रेतायुगे महाभाग १२४
त्रैविद्या मां २६६
त्वं नित्यमुक्त ५५
त्वं भक्तियोग २७४
त्वत्तो वेदितुमिच्छामि ३५०
त्वया यत् ३५३

द

दक्षिणो विनयी ४९
ददाति प्रतिगृह्णाति १७६
दम्भाक्रान्ताश्चरन्त्येते १७४
दर्शनस्पर्शनैर्वाचा ३५७
दानं स्वधर्मो १०७
दानव्रततपो ७०
दासाः सखायः ३४९
दासाभिमानिनां ३९४
दिव्ये पुरे ३१२
दीपार्चिरेव हि ५४
दुर्जात्यारम्भकं २१३
दृष्टिपूतं न्यसेत् २२२
दृष्टैः स्वभावजनितैः ३४०
देवकी तत्सपत्न्यः ४१०
देवमाया विमूढ़ां २५५
देवर्षिभूताप्तनृणां ७६, ७७
देवानां गुणलिङ्गानां १५८, २७१
देवीं मायां तु १४९
दैवात् सद्भक्तसंगेन २९१
दैवाधीने शरीरे ३६९
दौत्यं व्रजकिशोरीषु ४०६
द्रष्टुं कान्तमुखाम्भोजं ३५५
द्वयोरप्येकजातीय ४०८
द्वित्राभिः सेवतो ३५५
द्विफालबद्धचिकुरैः ३५३
द्विभुजत्वादि भागत्र ४०१

ध

धनधान्यादिभिः ३५९
धन्यस्यायं नवः ३०१
धर्मः स्वनुष्ठितः १६
धर्ममेके यशश्चान्ये २७९
धर्मबाधो विधर्मः १५
धर्मव्रतत्याग १८५
धर्मस्य ह्यापवर्गस्य ८८
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं १५०
धर्मार्थकाम इति ८
धार्यमाणं मनो ३३९
धिक् जन्म ८९
धुर्यो धीरश्च ३९७
धूमायितास्ते ३८१
ध्राणोऽन्यतश्चपलद्दक् १७३

न

न किंचित् साधवो २३५

न कृष्णे रस ४२१
न कर्हिचित् १०
न गृहं गृहमित्याहुः ९९
न चान्तर्न बहिर्यस्य २७२
न चास्य कश्चित् १७
न जातुः कामः १०४
न जानामि महाभाग २३१
न तत्र सूर्यो ३१५
न तेऽभवस्येश २७३
नदति क्वचिदुत्कण्ठो २१९
न दानं न तपो १९, ६९
न नामसदृशं ३२१
न नामसदृशस्त्यागो ३२१
न पतिं कामयेत् ३००
न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि २२६
नमो नमस्तुयमसह्यवेग २४९
न यत्र वैकुण्ठ ९१
नर्मप्रयोगे नैपुण्यं ४२५
नवात्र सात्विकाः ४११
न शिष्याननुवबध्नीत १७३
न साधयति ३०४
न हि कश्चित् १०४
न ह्यच्युतं १९५
न ह्यन्यतोऽनन्तपारस्य १९३
नह्यन्यो जुषतां ९१
नातः परतरो २६४
नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि २२६
नात्यश्नतस्तु ९८
नानाशिल्पकलाभिज्ञां ३४९
नानोपकरणैः ३४४
नामश्चिन्तामणिः ३११
नामरूपवयोः ३४५
नामाश्रयः कदाचित् १८४
नामैव परमा प्रीतिः ३२१
नामैव परमा शान्तिः ३२१
नाम्नामकारि बहुधा ३२२
नायमात्मा प्रवचनेन ३१७
नायमात्मा बलहीनेन ३१७
नालं द्विजत्वं १९, ६९
नासच्छास्त्रेषु सज्जते १७३
नासाग्रन्यस्तनेत्र ३९२
नास्त्यर्थः ३८२
नाहं जानामि ३५०
नाहं प्रकाशः सर्वस्य २७२
निगमकल्पतरोः ४४२
नित्यप्रियाः सुरचराः ४०३
नित्योनित्यानां ३१३
निद्रितौ तिष्ठतः ३५२
नियुद्धकन्दुक ४०५
निर्जितीकरणं ४०६
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो १९१
निर्वेदोऽथविषादो ३८२
निवासो व्रजमध्ये ३४६
निशान्तः प्रातः ३४८
निषेकगर्भजन्मानि १९१
निषेवितेनानिमित्तेन २५९
निसर्गपिच्छिलस्वान्ते ३८२
नीतिभिः सम्पदस्ताभिः २३०
नीत्वा गृहान् ३५७
नृणां निःश्रेयसार्था ८४
नृत्यं विलुठितं ३८०
नृत्यतो गायतः ५८
नेष्टा यदङ्गनिरसे ४२३
नेह यत् कर्म २२

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति २३५
नैतत् समाचरेत् ४४१
नैरपेक्षं निर्ममता ३९२
नैव किञ्चित् २६७
नैव स्त्री ३४३
नैवेच्छत्याशिषः २३५
नैष्कर्म्यमप्यच्युत ३१४
नोद्विजेत जनाद् धीरो २२२

प

पक्वानानि गृहीत्वा ३५८
पत्रं पुष्पं फलं १६०
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं ९०
परमानन्द तादात्म्यात् ३८६
परस्परानुकथनं ८२
परीक्ष्य लोकान् ३१९
पर्यकासनदोलासु ४०५
पशूनविधिनाऽऽलभ्य १८१
पात्रं तत्र १६७
पादाब्जतुलसीगन्धः ३९१
पारकीयाभिमानिन्यः ३४९
पाल्यदासी च ३४६
पितरं मातरं ३५४
पितृभ्यामर्थितो ३५७
पित्रा सार्धं ३५७
पुण्या बत २२७
पुत्रदाराप्तबन्धुनां ११४
पुनः पुनः सुदृढ़ाभ्यास ३२८
पुनश्च याचमानाय १३८
पुनश्च मारिकावाक्यैः ३५२
पूरा महर्षयः २०८
पूर्त्तेन तपसा २६३
पूर्वं दुर्वाससा ३५३
पूर्वाह्णे धेनुमित्रैः ३५४
पूर्वोक्तधीरोदत्तादि ४१९
पौगण्डमध्ये ४०५
प्रकटं पतितं १७४
प्रकृतेरेवमात्मानं ५८
प्रजापतिपतिः २३८
प्रतापी कीर्त्तिमान् ४९
प्रतापी धार्मिकः ३९५
प्रतिबिम्बस्तथाच्छ २८९
प्रतिष्ठाशा धृष्टा ३४१
प्रतीयमाना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः ३८६
प्रथमं नाम्नः ३३३
प्रयत्नाद्यतमानस्तु ३०३
प्रयुज्यमाने मयि ५९
प्रलपन् विसृजन् २६८
प्रलयः सुखदुःखाभ्यां ३८१
प्रवर्त्तते यत्र २५६, ३४८
प्रविश्य चन्दनाम्भोभिः ३५५
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना ५
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च द्विविधं १३४
प्रसाद आन्तरो २१७
प्रसादा वाचिकालोक २१६
प्रस्थाप्यते मया ३५८
प्रागेव फलमूलानि ३५५
प्राणवृत्या ९०
प्राणो ह्येष ३१३
प्रातश्च बोधितो ३५२
प्रादुश्चकर्थ यदिदं २७६
प्राप्तनिद्र इवाभाति ३५६

प्राप्तायां सम्भ्रमादीनां ४०७
प्रायः शमप्रधानानां ३७७
प्रायेण देव मुनयः १४२
प्रियनर्मवयस्याः ४०३
प्रियनर्मवयस्येषु ४०३
प्रियया च तथा ३५५
प्रीते च वत्सले ४०८
प्रीत्यानुदिवसं ३४९
प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिः ५
प्रेमैव गोपरामाणां २०७
प्रेयानेव भवेत् ४०८
प्रोक्तेन भक्तियोगेन ८६
प्रोक्तेयं विरहावस्था ४०७

फ

फल्गुवैराग्यनिर्दग्धाः ३८६

ब

बहवो मत्पदं १५५
बहिरन्तश्च ३८१
बहुनामपि सद्भावे ४१२
बालाग्रशत भागस्य ५४, ३४३
बालिशा वत यूयं २५१
ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य ४६४
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि २६७
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा १६६
ब्रह्मवर्चसकामस्तु १४९
ब्रह्मशंकरशक्राद्याः ३९६
ब्रह्मांडकोटिधामैक ३९४
ब्रह्मानन्दो भवेदेष २१४
ब्रह्माविद्ययोः २३३
ब्राह्मणः को ४६४

भ

भक्तानां भेदतः २१८
भक्तिः परेशानुभवो ७६
भक्तिः प्रेमोच्यते ३००
भक्तियोगेन मनसि १६, ४३
भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा ९१
भक्त्या मामभिजानाति १६५
भगवद्भक्तिहीनस्य २८३
भगवन्नामात्मका ३३१
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः ५५
भयं प्रमत्तस्य ३३५
भावनायाः पदे ३८६
भाव एवान्तरङ्ग ३००
भावेन केनचित् ३११
भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः ३००
भावोऽप्यभावामायाति २९०
भारताद्युक्तिरेषा ३७६
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते ८६
भुङ्क्तेऽथ ३५३
भूमिरापोऽनलो ५८
भूषागृहं ३५२
भ्रश्यत्यनुस्मृतिः २६४

म

मज्जयों बहुशो ३४६
मतिर्न कृष्णे ८१
मद्गुणश्रुतिमात्रेण १५९, २७१
मदर्थेऽर्थपरित्यागो १६१
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा १६१
मद्धर्मणो गुणैरेतैः २५९
मध्याह्नेऽन्योन्य ३५४
मध्याह्नयामिनी ३४९

मध्ये वृनदावने ३५१
मनः कर्ममयं ५७
मनसा मानसी ३४४
मनागेव प्ररूढ़ायां २१३
मनोगतिरविच्छिन्ना ३०१
मन्मना भव १६५
मन्मायामोहित्तधियः २७९
मयि निर्बद्धहृदयाः ८५
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ २३८
मर्त्यो यदा ३३५
मल्लक्षणमिमं ५७
महतस्तु विकुर्वाणात् ६०
महतां बहुमानेन २५९
महाभावस्वरूपेयं ३४२, ४२८
महाशक्तिविलासात्मा ३७५
महिमज्ञानयुक्तः ३०१
मां हि पार्थ १५७, ३०४
मातरि प्रस्थितायां ३५९
मात्रानुमोदितो ३५२
मात्रा स्वस्त्रा ३७१
मात्सर्यवानहङ्कारी मायावी ४२०
माद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तु २५९
माद्रेयनारदादिनां ४१३
मामेकमेव १५५, ३१०
मायावादमसच्छास्त्रम् ६३
माहात्मयज्ञानयुक्तस्तु ३०१
मिथः पाणी समालब्ध ३५५
मिथो हरेः ३७८
मिलित्वा तावुभावत्र ३५९
मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं ३२३
मुखबाहूरूपादेभ्यः ७०
मुख्यस्तु पञ्चधा ३७४
मुमुक्षुवो घोररूपान् १७३, १८०
मुरलीशृङ्गयोः ३९८
मुहुराकारिता ३५३
मूलतो भजनासक्ताः ३९६
मोहो मृतिरालस्यं ३८२

य

यं न योगेन ८३, १५५
यः कश्चिदात्मानं ४३४
य एतदक्षरं ४६४
य एषां पुरुषं ७०
यजन्ते सात्विका १०३
यज्ञं यजेद् १५०
यत्कर्मभिर्यत्तपसा १९८
यत्तत्त्वं श्रीविग्रह ३३३
यत्नैनापादितोऽप्यर्थः २७०
यत्रानुरक्ताः ३२९
यत्रैतल्लक्ष्यते ४६४
यत्सेवया भगवतः २८६
यथाक्रीड़ति ३४७
यथाग्नेः क्षुद्रा ३१२
यथा जले ३६९
यथा तरोर्मूल २८, १७६
यथाऽऽत्ममायायोगेन २४९
यथा दुष्टत्वं ३४१
यथा प्रकटलीलायां ३४९
यथा भ्राम्यत्ययो २५९
यथामनोरथोधियो ५८
यथा महान्ति ६६, २४२
यथाम्भसा प्रचलता ५८
यथा यथात्मा ३८, ३३४
यथा यूथेश्वरी ३४५

यथा राधा प्रिया ४२९
यथा वार्त्तादयो १०७
यथोत्तरमसौ ३७९
यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गात् ६०
यदत्र क्रियते १९२
यदा कृष्णेच्छया ३३४
यदा यस्यानुगृह्णाति ८१, २३८
यदा यादृशि ३७३
यदा विनियतं ९८
यदि ते वृत्तत्तो ४६४
यदि वा दुर्मतिः २३०
यदि हरिस्मरणे ४४१
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू १९८
यदृच्छया मत्कथादौ २८, १९१
यदृच्छयोपपन्नेन ११४, २२२
यदेश्यज्ञानशून्यत्वात् २०९
यद् घ्राणभक्षो १३६
यद्यदि अन्यत्र ४६४
यद्यधर्मरतः १८१
यन्नामधेयं १९६
यन्मर्त्यलीलौपयिकं २४६
यमादिभिर्योगपथैः २६८, ४६३
यया सम्मोहितो १५, ४३, ३१६
यशोदादेस्तु ४१२
यश्चित्तविजये १३१
यस्ततु आशिष ६९
यस्त्वयाभिहितः १००
यस्त्वसंयतषड्वर्गः २२२
यस्त्विच्छया कृतः १५
यस्मिन् विरुद्धगतयो ४६, २४२
यस्य प्रभा प्रभवतो ४१
यस्य यत्संगति १७१
यस्य यल्लक्षणं १०१, ४६४
यस्यां वै १६, ४३
यस्याः सर्वोत्तमे ३४२
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे २७६
यस्यास्ति भक्तिः ९२
यर्ह्येव यदेकं २४३
या निर्वृतिः ३१२
यान्ति देवव्रता १८६, २९२
याभिर्भूतानि ११
यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि २८६
यावल्लिङ्गान्वितो २५२
यावानहं यथाभावो ६६
युक्तायुक्तादिकथनं ४०६
युक्ताहारविहारस्य ९८
युग्मत्वे लास्यगानाद्याः ४०५
यूथाधिपत्येऽप्यौचित्यं ४२८
यूथेश्वर्याः ३४६
ये कैवल्यमसंप्राप्ता १३७, १८०
ये तु सर्वाणि १६४
ये त्वनेवंविदो १७९
येऽन्येऽरविन्दाक्ष ५९
येऽप्यन्यदेवताभक्ता १८६, २९२
ये मुमुक्षां ३९६
येषां त्वन्तगतं २७२
ये स्युस्तुल्या ३७८
योगस्त्रयो मया ९७
योगिनामपि सर्वेषां ३०४
यो दुस्त्यजान् २२१
योऽनधित्य द्विजो ४६५
यो वा मयीशे ८१
यो वै वाङ्मनसी ३९
यो व्यक्ति न्यायरहितं १९०

र

रक्तकः पत्रकः ३९७
रजस्तमः प्रकृतयः १८०
रजस्तमश्च सत्त्वेन १०७
रत्याक्रमणतः ३८०
रत्याभासभावास्ते ३८१
रमन्ते योगिनः ३२६
रमयन्ति प्रियसखाः ४०३
रसो वै सः ३०८
रहस्यमपि वक्षाभि ३५१
रागात्मिकैकनिष्ठा २०५
रागानुगाश्रितानान्तु ३०१
रागेणोल्लंघयन् ४२१
राजमार्गे व्रजद्वारि ३५७
राज्यकामो मनून् १५०
राज्यन्ते त्रस्तवृन्देरितः ३५२
राधां सालीगणां ३५८
राधां स्नातविभूषितां ३५२
राधिकानुचरीं ३४९
राम रामेति ३२६
राशब्दोच्चारणाद्देवि ३२६
रिंरसां सुष्ठु २०८
रूपं यूथेश्वरी ३४५
रूपभदविदस्तत्र २५७
रूपवेशगुणाद्यैस्तु ४०१
रूपाभिकामो १४९
रोदनबिन्दुमरन्द २२६

ल

लक्षणं भक्तियोगस्य १५९, २७१
लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं ७
लीला प्रेम्ना प्रियाधिक्यं ४९
लुब्धौर्वात्सल्य २०८
लोकानां लोकपालानां १५०
लोके व्यवायामिष १३६, १७९

व

वञ्चयित्वा तु तान् ३५४
वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे ४१०
वत्सैर्वत्सतरीभिः ४०८
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं २४
वनं तु सात्त्विको ९०
वनं प्रविश्य ३५४
वसन्तवायुजुष्टेषु ३५५
वयः कौमार ४०५
वयस्तुल्याः ४०३
वयो नानाविधं ३४५
वरीयान् बलवान् ३९५
वरीयानीश्वरश्चेति ४९
वर्णाश्रमवतां १४५
वर्त्तितव्यं शमिच्छद्भिः ४२३
वस्तुतः स्वयं २१४
वस्त्ररत्ना ४०६
वागङ्गसत्त्वसूच्या ३८२
वाग्भिस्तुवन्तो २२१
वाचं यच्छ ३९
वाचोवेगं ३३८
वाणी गुणानुकथने २१८
वात्सल्यगन्धिसख्याः ४०२
वामा वक्रिमचक्रेण ४०३
वासः स्रक्चन्दनैः ३५५
वासुदेवे भगवति १५२
विक्रीड़ितं व्रजवधूभिः ५०, ३६०
विज्ञाप्य भगवत्तत्त्वं ३२५

वितथोऽभिनिवेशोऽयं २५२
वितर्कावेगहीजाड्य ३९९
विदग्धश्चतुरो ४८
विदग्धो नवतारुण्य ४२०
विदितोऽसि भवान् २७४
विद्यातपःप्राणनिरोधः २६८
विद्याधरा मनुष्येषु १५५
विद्याऽविद्ये मम १८
विद्याविनयसम्पन्ने १९४
विद्याशक्तिप्रधानत्वं ३९१
विधर्मः परधर्मश्च १५
विपुलप्रतिभो दक्षः ४०१
विप्र–क्षत्रिय १२४
विप्रवेषं समास्थाय ३५६
विप्रस्याध्ययनादीनि १२८
विप्राद् विषड्गुण १९७
विविक्तसेवी लघ्वाशी १६६
विविधाद्भुतभाषावित् ४८
विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं ४०९
विभावैरनुभावैः ३७१
विभावोत्कर्षजो ३७४
विमुक्तसम्भ्रमा या ४०७
विमुक्ताखिलतर्षैर्या २८९
विभृयाच्चेन्मुनिर्वासं २२२
वियोगे त्वद्भुतानन्द ३८४
विरक्तिरिन्द्रियार्थानां २२१
विश्रम्भो गाढ़विश्वास ४०७
विषण्णमानसो ३५६
विषयादिक्षयिष्णुत्वं ३९१
विष्णुर्विरिञ्चो २५१
विस्तार्य वागुरां १७४
विहाय विषायोन्मुख्यं ३७७
विहारैर्विविधैस्तत्र ३५४
वृत्तिः सङ्करजातीनां १२८
वृत्त्या स्वभावकृतया १२८, ४६४
वेदः प्रणव १२४
वेदोक्तमेव कुर्वाणो १८८
वेशो नीलपट्टाद्यैः ३४५
वैदग्धिसारसर्वस्व ३२६
वैधभक्त्यधिकारी २०६
वैधीरागानुगमार्गभेदेन २१६
वैशिष्टयं पात्र ३७२
वैश्यस्तु वार्त्तावृत्तिश्च १२८
वैष्णवं ज्ञानावक्तारं ३३१
व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते २८९
व्यतीत्म भावनावर्त्म ३८६
व्रजानुगेषु सर्वेषु ३९७

श

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे २३८
शमप्रकृतिकः ४२०
शमो दमस्तपः शौचं १२१
शरण्याः कालिय ३९६
शारीरा मानसा ९२
शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्निः २८३
शुद्धसत्त्वविशेषात्मा २१४, ३७२
शुद्धा प्रीतिस्तथा ३७२
शुभानि प्रीणनं २१३
शुश्रूषणं द्विजगवां १२१
शुश्रूषोः श्रद्दानस्य ३०६
शूद्रे तु यद्भवेत ४६४
शृङ्गारससर्वस्वः ३४४
शृण्वतां गृणवतां ८२
शृण्वतां स्वकथाः ९१, ३०६

शृण्वन् सुभद्राणि २१९
शैली दारुमयी १४, १६८
शोकामर्षादिभिः १७३
शौचं तपस्तितिक्षाञ्च १५९
श्यामं प्रपद्ये ३१३
श्यामांगो रुचिरः ४०९
श्यामाच्छबलं ४१५
श्रद्धां भागवते १२, १६०
श्रद्धामृतकथायां १६१
श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं १६०
श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः ७३
श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि २०६
श्रिया विभुत्याभिजनेन ४३
श्रीकृष्णगाथां ३००
श्रीनाथे जानकीनाथे १४
श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं २०८
श्रीयः कान्ताः कान्तः ६
श्रीराधां प्राप्तगेहां ३५७
श्रीराधाकृष्णयोर्यत् ३४६
श्रीराधाप्राणबन्धोः ३५१
श्रीराधाश्चित्तमाकृष्य ३२६
श्रीरूपमञ्जरी ३४५
श्रुतिर्महोपनिषदां ३९१
श्रुतिस्मृतिपुराणादि १८७
श्रुतेन तपसा २४४
श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये १८५
श्रेयः सृतिं ६५
श्रेयसामापि सर्वेषामात्मा २४४
श्रेयसामिह सर्वेषां २३१
श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् २३१
श्रेयान् स्वधर्मो १९४
श्रेष्ठः पुरवयस्येषु ४०२
श्लाघयंश्च हरिस्तानि ३५८
श्लोकपादस्य ३३१

ष

षड़वर्गसंयमौकान्ताः ७१

स

स एव भक्तियोगाख्य २३५
स एव यर्हि ६९
संस्कारांश्च ३५९
संकरान् र्सवर्णानां ४६५
सङ्कर्षणस्य सख्यं ४१३
स खल्विदं भगवान् २४२
सख्यस्तत्र तया ३५८
सङ्गं न कुर्यात् ३७१
संचारिणोऽत्र ३९२
स जीवन्नेव ४६५
सतां प्रसङ्गात् ३०६
सत्त्वं विशुद्धं ४१९
सत्त्वादस्मात् ३८०
सत्यं ज्ञानं क्षमा ४६४
सत्यं ज्ञानमनन्तं ४२३
सत्यं शौचं ३७१
सदा स्वरूप संप्राप्तः ४९
सपर्यगाच्छु ३१३
समस्तगुणवर्जिते ३९९
समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय २२६
समृद्धिमान् क्षमाशीलः ३९४
समोऽहं सर्वभूतेषु ३०४
सम्बन्धरूपा २०७
संभोगेच्छामयी २०८
संभ्रमः प्रभुता ३९९

सम्भ्रमादिच्युता ४१२
सम्यङ्मसृणित २९९
सर्वं मद्भक्तियोगेन १९८
सर्वतः स्वनियोगानाम् ३९८
सर्वतो मनसः १६०
सर्वत्रात्मैश्वरान् १६०
सर्वथैव दुरूहः ३८६
सर्वदा परिचर्यासु ३९७
सर्वधर्मान् परित्यज्य १६५, ३१०
सर्वभूतस्थमात्मानं ९८
सर्व वेदान्तसारं हि ३४
सर्ववेदेतिहासानां ३४
सर्वाद्भुत चमत्कार ४९
सर्वापराधकृदपि १८४
सर्वासां सन्निधिं ३५५
सर्वे सर्वास्वपत्यानि ४६५
सर्वेषामपि वसतूनां २४६
सर्वेषु सखिषु ४०२
स विज्ञेयः परो ४६५
स वेद धातुः १७
स वै पुंसां १५२
स वै प्रियतमश्चात्मा ८५, २३९
सहस्रशः समेतानां ४६५
सा कामरूपा २०७
सा तु सूर्यगृहं ३५६
सा भुक्तिमुक्तिकामत्वात् २८९
सा सखीप्रकरा ३५३
साधनाभिनिवेशस्तु २१६
साधनेक्षां बिना २९५
साधनेन बिना २१६
साधनौघैरनासङ्गैः २१३
साध्य–साधनयोः ३३४
सापि कृष्णां ३५४
सापि भुक्त्वा ३५८
सामान्यासौ तथा ३७२
सा संबन्धानुगा २०८
सायं राधां ३५८
सार्द्धयामद्वयं ३५९
सालोक्यसार्ष्टि २३५
सुखं वैषयिकं २१३
सुखाशया बहिः २२९
सुखैश्वर्योत्तरा २८२
सुग्रीवो हनुमानृक्षो १५५
सुचन्द्रो मण्डनः ३९७
सुपर्णावेतौ सदृशौ ३
सुमैखन्द्रियकं १९६
सुवेशः सर्वसल्लक्ष्म ४०१
सुभद्र–मण्डलीभद्र ४०२
सुयोग्यदेशिकात् ३३४
सुष्ठु कान्तास्वरूपेयं ४२९
सूक्ष्माणामप्यहं ५४
सृष्ट्वा पुराणि ३
सेवा साधकरूपेण २०६, ३४४
सेव्यमानो हसन् ३५५
सेव्य–सेवक सम्बन्धः ३४५
सोऽभिवव्रेऽचलां ९२
स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः ३९९
स्तेयं हिंसाऽनृतं १३५
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां ३७१
स्थायी भावोऽत्र ३७२
स्थायीभावो विभावाद्यैः ४०१
स्थित्युद्भवप्रलयहेतुः ४
स्थिरो दान्तः ४९
स्निग्धास्तु सात्त्विका ३८०

स्नेहः स रागो ४००
स्फुटं चमत्कारितया ४१२
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च ८२
स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु ७४
स्मिताङ्गसौरभे ३७९
स्मृतिध्यानधारणा ३३४
स्यात् कृष्णनाम ३२८
स्वधर्मनिष्ठः ३०४
स्वपादमूलं भजतः ७७
स्वल्पापि रुचिरेव २७०
स्वरूपप्रेमवात्सल्यैः ३२५
स्वरूपमन्त्र ३३१
स्वरूपसिद्धिमापन्नं ३३४
स्वस्माद्भवन्ति ३७७
स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च ६३
स्वे स्वेऽधिकारे ७४, १४४

ह

हन्यन्ते पशवो ९१
हरति श्रीकृष्णमनः ३२५
हरन्ति दस्यवोऽटव्यां १७४
हरा सा कथ्यते ३२५
हरिर्देहभृतामात्मा २३९
हरिर्दैवं शिवोदैवं २८८
हरिप्रियक्रियाकाल २९०
हरिप्रियजनस्यैव १८५, २९०
हरिरेव सदाराध्यो १७३
हरिर्हरति ३२५
हरिश्च तद्वयस्याश्च ४०१
हरिश्च तस्य ३९४
हरेर्दैनन्दिनीं ३५०
हरेर्द्विष्यपि न ३९२
हर्षो गर्वो ३९९
हसितैर्बहुधा ३५४
हारादिग्रहणे ३५६
हासो विस्मय ३७४
हास्योऽद्भुतस्तथा ३७४
हिंस्रं द्रव्यमयं १३४
हिरण्मये परे ३१५
ह्लादिनीया ४२९
ह्लादिनी सन्धिनी २५०
ह्लास–शंकाच्युता ४००

पयार-सूची

अ	*पृष्ठ संख्य*
अतएव भागवत करह	४४७
अद्वयज्ञान-तत्त्व	५१
अनर्थनिवृत्ति हइले	३३
अनन्त गुण श्रीराधिकार	८४
अनन्तशक्ति-मध्ये	४५
अन्तरङ्गा—चिच्छक्ति	४६
अन्तरे निष्ठा कर	८७
अमानी मानद हञा	९३
अभिधेय-नाम—'भक्ति'	३५
अविचिन्त्य-शक्तियुक्त	६०

आ	
'आचार'-'प्रचार' नामेर	३०९
आनन्दांशे 'ह्लादिनी'	४६
आपने आचरे केह	३०९
आपने दक्षिण देश	२७

इ	
इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'	७८

ई	
ईश्वरेर शक्त्ये सृष्टि	४७

उ	
उपजिया बाड़े लता	३३७
उपनिषत्-सहित सूत्र	६२
उपनिषद्-शब्दे जेइ	६२

ए	*पृष्ठ संख्य*
एइ आज्ञा पाइया	३०
एइ त कहिल	७९
एइत कहिलुँ	३६
एइत परम-फल	३३८
एइ त' संक्षेपे	९३
एइ त' साधनभक्ति	९, ७३
एइ नव प्रीत्यंकुर	८३
एइमत करे जेबा	७९
एइमत ब्रह्माण्ड	५३
एइ रस आस्वाद नाहि	८५
एइ सब साधनेर	७०
एई पञ्चतत्त्वरूपे	२७
एक अङ्ग साधे केह	७६
एत बलि' एक	२९
एबे शुन भक्तिफल	८२
एवे साधनभक्ति-लक्षण	७२

ओ	
ओ रे भाई भज	२२५

क	
काम-क्रोधेर दास	५१
काम त्यजि' कृष्ण भजे	७७
किन्तु यदि लतार सङ्गे	३३७
किबा मन्त्र दिला	३०
किवा विप्र, किवा न्यासी	३३२
कुबुद्धि छाड़िया	८९

कृष्ण गुणाख्याने करे ८३
कृष्णनाम–महामन्त्रेर ३०
'कृष्ण–नित्यदास'—जीव ७०
'कृष्ण'—प्राप्य सम्बन्ध ३५
कृष्णमन्त्र हइते २९
कृष्णभक्त—निष्काम अतएव १५३
कृष्णभक्ति हय ७०
कृष्णविषयक प्रेमा ३०
कृष्णसम्बन्ध बिना काल ८३
कृष्णे रति गाढ़ ८२
कृष्णेर रतिर चिह्न ८४
कृष्णेर स्वरूप–विचार ३७
कृष्णेर स्वाभाविक ४५
केवल ज्ञान 'मुक्ति' ७०
केशाग्र–शतेक–भाग ५३
केशाग्रशतभागस्य ५३
कोटिज्ञानी–मध्ये हय १५३
कोन भाग्ये कोन २८, ३३
क्षुद्रजीव सब मर्कट–वैराग्य २२४

ग

गीताशास्त्रे जीवरूप ५३
गौणवृत्त्ये जेवा भाष्य ६३
ग्राम्यकथा न शुनिबे ९३

च

चारि वर्णाश्रमी यदि ७०
चिदानन्द—देह ताँर ६३

ज

जड़ हैते सृष्टि ४७
जीवेर 'स्वरूप' हय ५२
जीवे 'विष्णु' बुद्धि करे २७६
जीवे विष्णु मानि २७६
जेइ ग्रन्थकर्त्ता चाहे २८१
जेइ भजे, सेइ बड़ ८९
ज्ञान, योग, भक्ति ३९
ज्ञानी जीवन्मुक्तदशा ७०

त

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये ६१
तथापि आमार आज्ञाय ९३
तबे जाय तदुपरि ३३७
तबे धैर्य धरि' ३०
ताँर उपदेश–मन्त्रे ५१
ताँर दोष नाहि ६३
ताँरे 'निर्विशेष' कहि ६१
ताँहार नाहिक दोष ६३
ताँहार विभूति, देह ६३
ताँहा विस्तारित हइया ३३७
ताँहा सेइ कल्पवृक्षेर ३३८
ताते कृष्ण भजे ७०
ताते छय दर्शन हैते २८१
ताते माली यत्न करि' ३३७
तार मध्ये मनुष्य–जाति १५३
तारमध्ये सर्वश्रेष्ठ ८८
तार मध्ये 'स्थावर' १५३

द

दास–सखा–पित्रादि १०, ७९
दीनेरे अधिक दया ८९

ध

धर्माचारी–मध्ये बहुत १५३
धैर्य धरिते नारि ३०

न

न गृहं गृहमित्याहुः ९९
नाना रत्नराशि हय ६१
नाम बिना कलिकाले २९
निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ ७९
'नित्यबद्ध'—कृष्ण ५१
'नित्यमुक्त'—नित्य ५१
नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम ७२
नित्यानन्द–गोसाञे २७
'निषिद्धाचार', 'कुटीनाटी' ३३८
नीचजाति नहे ८९
'न्याय' कहे,—'परमाणु २८१

प

परम कारण ईश्वरे २८१
परिणाम–वादे ईश्वर ६०
पागल हइलाम आमि ३०
'प्रणव', महावाक्य ३२
'प्रणव' से महावाक्य ६२
प्रथमेइ उपशाखार ३३८
प्रतिग्रह ना करे ना १२९
प्रीत्यंकुरे 'रति', 'भाव' ७९
'प्रेमफल' पाकि' पड़े ३३८

ब

बाह्य, अन्तर, ७९
'ब्रह्म'–शब्दे मुख्य ६३
ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन ३३७

भ

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ ८८
भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा ६२

म

मथुराते पाठाइल २७
'मने' निज–सिद्धदेह ७९
मर्कट–वैराग्य ना कर ८७
माया–द्वारे सृजे ४७
'मायाधीश'–'मायावश' ५३
मायामुग्ध जीवेर ३२
माली हइया करे ३३७
'मीमांसक' कहे,—'ईश्वर २८१
मुख्य–गौण–वृत्ति ३९
मुख्यार्थ छाड़िया कर ६२
मूर्ख तुमि, तोमार २९
मोर वश नहे २२४

य

यदि वैष्णव–अपराध उठे ३३७
यद्यपि असृज्य ४७
यौंर चित्ते कृष्णप्रेमा ८४
युक्तवैराग्यस्थिति ८५

र

रागमयी भक्तिर हय ७८
रागहीन जन १०, ७३
रागात्मिका–भक्ति–'मुख्या' ७८
रुचि हैते भक्ति ३३

ल

लोभे व्रजवासीर भावे ७८

व

वस्तुतः परिणाम–वाद ६०
वेदनिष्ठ–मध्ये अर्द्धेक १५३
वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध' ३५
वेदान्तसूत्र—ईश्वर–वचन ६२
वैधीभक्ति–साधनेर कहिलुँ ७८
व्यासेर सूत्रेते ६०

श

शुन, श्रीपाद, २९
'श्रद्धा'–शब्दे—विश्वास २८
श्रवणादि–क्रिया—तार ७२
श्रीकृष्णचैतन्य–वाणी—अमृतेर २८१

स

संसार भ्रमिते कोन १५४
सच्चिदानन्दमय हय ४५
सब श्रोतागणेर करि ४४७
सबे, एक गुण देखि २४५
समुत्कण्ठा हय सदा ८३
सर्व–आदि, सर्व–अंशी ३७
सर्वाश्रय ईश्वरेर करि ६२
'सर्वोत्तम' आपनाके 'हीन' ८३
साधुसङ्ग हैते हय ३३
'साध्य'–'साधन' तत्व ९३
सिद्धान्त बलिया चित्ते ४४७
सूर्यांशु–किरण जेन ५२
सेइ दोषे माया ५१
सेइ 'रति' गाढ़ ३३
सेई विभिन्नांश जीव ५१
सेकजल पाइया ३३८
सेतुबन्ध पर्यन्त कैला २७
स्थिर हइया घरे ८७
स्वतःप्रमाण वेद ३२
स्वयं भगवान कृष्ण ३७
स्वरूप–ऐश्वर्ये ताँर ३५, ६१
स्वांशविभिन्नांश–रूपे ५१
स्वांश–विस्तार—चतुर्व्यूह ५१

ह

हइया मायार दास २२४
हरेर्नाम हरेर्नाम २९, ३१
हाँसि' महाप्रभु रघुनाथेरे ९३
हासाय, नाचाय, ३०